१०४

मधुपर्क

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल
(सुधा-संपादक)

मधुपर्क

लेखक—

पं० भगवतीप्रसाद बाजपेयी
(हिलोर, पतवार आदि पुस्तकों के प्रणेता

प्राप्ति-स्थान—
भारती (भाषा)-भवन
३८१०, चर्खेवालाँ
दिल्ली

सं० २०११ वि०

मूल्य ३॥)

प्रकाशक—
भारती (भाषा)-भवन
३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लाटूश रोड, लखनऊ
२. राष्ट्रीयप्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. सुधा-प्रकाशन, भारत-आश्रम, राजा बाज़ार, लखनऊ

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्तान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक—
श्री जयंती प्रेस,
जामा मस्जिद,
दिल्ली

समर्पण

प्रिय मिश्रजी,

आपके साथ से जीवन के उन कुछ वर्षों में जो कुछ पाया था, देखिए, मैंने उससे यह कौतुक रच ही डाला। अब उस पावन साहचर्य की स्मृति में कृपया इसे स्वीकार भी कीजिए।

आपका—
भगवतीप्रसाद वाजपेयी

भूमिका

बच्चा कंठ फूटते ही कहानी कहने लगता है। ज्यों ही उसने आँखें खोलकर एक नवीन जगत् देखा, त्यों ही वह विस्मय-विमुग्ध हो गया, उसके हाथ-पैर गतिवान् होकर नाचने लगे और वह 'कहाँ-कहाँ' करके रो उठा। वह आँखें मींच लेगा, और रोने का शब्द उच्च स्वर से उच्चारित करेगा, पर उसकी आँखों में आँसू न होंगे। यही अबोध शिशु की कहानी है। आगे चलकर बच्चा ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों उसकी कहानी स्पष्ट होती जायगी। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह वह पीछे सीखेगा। पहले तो वह चार खिलौनों के साथ खेलना चाहेगा। वह मिट्टी के घरौंदे बनाएगा, और आनंद से फूल उठेगा। वह चिड़ियों को देखगा। बिल्ली और भेड़ के बच्चों के साथ खेलेगा। वह गीले आटे की टिक्की को किसी के हाथ में देखेगा, तो उससे छीन लेने की कोशिश करेगा। फिर उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर कुंज में जायेगा, और रंगीन मछलियां को खिलाएगा। मछलियाँ नाचेंगी, और उनके नर्तन के साथ-साथ शिशु का मन-मयूर भी नाचेगा। यदि उसका कोई खिलौना टूट जायगा, तो वह रोने लगेगा। यदि उसकी बिल्ली का बच्चा दुर्भाग्य से अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देगा, तो भी शिशु उसको अपने साथ घसीटकर मा के पास ले जायगा, और यह जानने की कोशिश करेगा कि यह मेरे साथ बैठकर खेलता क्यों नहीं ? मा बच्चे को पुचकारकर उसे समझाएगी कि उसका वह साथी अब उसके साथ नहीं खेलेगा, वह मर गया है। मा शिशु को ढाढ़स बँधाएगी, कहेगी कि वह अब उसके लिये वैसा ही बच्चा फिर मँगा देगी, तब कहीं बच्चा मानेगा। फिर जब तक वह आ नहीं जायगा, तब तक उसके मन को पूरा संतोष न होगा। इस

प्रकार बाल्य-जीवन से ही मनुष्य कहानी के रूप में उपस्थित होता है। ज्यों-ज्यों उसकी मानसिक शक्तियाँ विकास पाती जाती हैं, त्यों-त्यों उसकी जीवन-कहानी स्पष्ट होती जाती है। शैशव-काल में वह स्वयं कहानी-मय रहता है, पर जब वह किशोर होता है, तब उसका बाह्य जीवन भी कहानी-मय हो उठता है। उसका भीतर और बाहर मिल जाता है. और तब उससे बड़ी ही अद्भुत और कौतुक- कहानी की सृष्टि होती है। वह शिक्षालय को जाता है। रास्ते में उसकी कोई पुस्तक गिर जाती है। उसी समय पड़ोस की कोई लड़की भी अपने शिक्षालय को जाती हुई इसको देख लेती है। वह पुस्तक उठाकर जल्दी से लपककर उस पुस्तक को आगे बढ़ाकर कहती है—"भैया, ओ भैया! तुम्हारी पुस्तक गिर गई थी। यह देखो, मैं उठा लाई।" बालक विस्मय और कुतूहल के भावों से ओत-प्रोत होकर लड़की के हाथ से पुस्तक लेते हुए एक बार उसको अच्छी तरह देखकर कह उठता है—"अरे, मेरी यह पुस्तक क्या रास्ते में गिर गई थी?" और फिर अपने बस्ते को देखने लगता है। उसमें उस पुस्तक को न पाकर और लड़की के हाथ में उसी को देखकर वह कहता—"सचमुच, यह मेरी पुस्तक रास्ते में कहीं गिर गई थी। कहाँ गिर गई थी री!" लड़की बहलाती है—"वहीं तो गिर पड़ी थी, जहाँ तुम मदारी का वह तमाशा देखने को ज़रा खड़े हो गए थे, उसी समय मैं भी घर से निकली। तुम थोड़ा आगे थे, मैं पीछे।" बालक कहता है—"तुमने यह बड़ा अच्छा काम किया चुन्नी! स्कूल में जो कुछ होता, सो तो होता ही, पर घर में दादा मेरे कान जरूर ऐंठते।" लड़की उत्तर में कहती है—"यही सब सोचकर और सब लोगों की आँख बचाकर मैंने झट से इसे उठा लिया। फिर मैं वहाँ ठहरी भी नहीं।" बालक का मन आमोद से भर जाता है। जिस लड़की के संबंध में अभी तक वह यही जानता आया है कि वह अमुक व्यक्ति की पुत्री है, अब

वह यह भी जान लेता है कि लड़की कैसी भोली-भाली, बुद्धिमान् और चतुर है। बालक धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। एक दिन वह युवक हो जाता है, और तब उसका विवाह हो जाता है। विवाह में अपने पसंद का साथी पाने के लिए वह भरसक सचेष्ट रहता है। उसके मन का साथी उसे मिलता है तो, और न मिलता है तो, प्रत्येक दशा में अपनी बाल्य-स्मृतियों को अपने अंतर में संचित रखता है। मनुष्य जीवन-संग्राम में आगे बढ़ता जाता है। सुख-दुख के अनेक प्रसंग उसके जीवन का मथन करते हैं। सब कुछ हो जाता है, और एक समय वह भी आ जाता है, जब उसकी इच्छाएँ धीरे-धीरे पूर्ण होते या मरते-मरते अनंत में लीन होने को उसका साथ छोड़ने लगती हैं, पर उस समय भी बाल्य—जीवन की टूटी-फूटी स्मृतियाँ उसकी कल्पनाओं के हिंडोले, उसके स्वप्नों के उद्यान, उसके हृदय को चीरकर नहीं निकल जाते। उन पर उसकी ममता रहती है, और वह जीवन की अंतिम साँस के साथ ही जाती है। इस प्रकार जैसे मनुष्य जन्म ग्रहण करते समय एक कहानी कहता करता है, वैसे ही वह अपने अंत काल में भी एक कहानी समाप्त करता है। उसका अंत-मात्र ही एक कहानी है। तभी तो आज तक लोग कहते आ रहे हैं, 'चलो, इनकी भी कहानी समाप्त हुई।' इस प्रकार मनुष्य अपने जन्म, जीवन और मरण तीनों अवस्थाओं में कहानी के रूप में ही संसार के समक्ष आता है।

यह हुई मनुष्य – जीवन की वह कहानी, जो वह विश्व के सामने चित्रित करता है। अब हमें यह देखना है कि मनुष्य के जीवन में कहानी क्या है, और उसका निवास कहाँ पर है? विधाता ने मनुष्य रचना में जो चातुर्य प्रदर्शित किया है, यह वर्णनातीत है मनुष्य की सृष्टि करने की कल्पना ही उस महाकवि का महाकाव्य है। पशु-पक्षियों की रचना करते समय उसको जो कुछ कठिनाई पड़ी होगी, उसकी

बात तो एकदम निराली है। मनुष्य तो अभी तक उसके उस शास्त्र का मर्म समझने को केवल सचेष्ट हो पाया है, पर मनुष्य में क्या है, यह समझ लेना अत्यंत दुस्साध्य न होते हुए भी सरल नहीं है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह यदि सदा अकेला रहे, और जीवन में कभी उससे किसी अन्य मनुष्य से भेंट न हो, तो मनुष्य का शरीर धारण करने पर भी वह मनुष्य-कोटि में नहीं रह सकता। जिस प्रकार पशुओं का जीवन आहार, विहार और संतान-पालन तक परिमित है, उसी प्रकार उसका जीवन भी रहेगा।

मनुष्य की सृष्टि उसके बाहर-भीतर से हुई। उसके मन में क्या है, यह बात जब तक वह अपने साथियों से कह नहीं लेगा, अथवा उसे व्यवहार-रूप में न बतला देगा, तब तक उसको संतोष न होगा। वह जब अपने साथी से मिलेगा, तब यही पूछेगा—"कहो, क्या हाल-चाल है? क्या समाचार है?" साथी जब कुछ बतलावेगा, तब वह उससे भविष्य की कल्पना करेगा, और झट से पूछ देगा—"अच्छा, हाँ, इसके बाद क्या हुआ?" साथी कुछ और बतलावेगा और अंत में जब वह अपना कथन समाप्त कर देगा, तब वह आगे के लिये सोचेगा—"देखें, अब इसके बाद क्या होता है।" यही सोचना मनुष्य का कल्पना-जगत् है। यही मनुष्य की विशेषता है और यही मनुष्य के जीवन की कहानी का मूल आधार है।

अब हमें देखना यह है कि मनुष्य की कल्पना में क्या रहता है। मनुष्य न अपने सुख के दिनों को भूल सकता है, न दुःख के दिनों को। स्मृतियों से ही वह निरंतर खेला करता है। वह जब दुःखी होगा, तब सोचेगा—'यदि मैं ऐसा होता, तो यह करता।" जब वह सुखी होगा, तब सोचेगा—"एक दिन वह था, जब मेरी दशा यह थी।" इस प्रकार कभी वह अतीत के साथ चला जाता है और कभी भविष्य

की ओर उत्सुकता से देखता है! कामनाएँ उसका साथ कभी नहीं छोड़तीं। वह अपने जीवन में सदा एक-न-एक कमी का अनुभव करता है। वह सदा यही सोचेगा—'यदि मैं ऐसा होता?' उसके हृदय में यही अभाव वेदना का रूप धारण कर लेता है। अनेक संयोग-वियोग, दर्द भरी घटनाएँ, आशा-निराशा के घात-प्रतिघात और स्मृतियाँ उसके जीवन से सदा लिपटी रहती हैं। एक की प्राप्ति उसके दूसरे साथी के अभाव की सृष्टि करती है। जिसके एक भी संतान नहीं है, वह सोचता है—'यदि मेरे एक भी संतान होती, तो मैं उसके लिये यह करता, वह करता।' जिसके एक पुत्र है, वह सोचेगा—'यदि एक पुत्री भी होती।' यदि दोनों हुए, तब और उसने किसी की चार-छः स्वस्थ, सुंदर और संपन्न संतान देखीं, तो वह सोचेगा—'यदि मैं भी ऐसा ही सौभाग्यशाली होता।' जिसका विवाह नहीं हुआ है, वह सोचता—'यदि उस फूलबाला के साथ मेरी जीवन-गाँठ बँधी होती।' और जिसका विवाह हो गया है, वह सोचता है—'यदि मैं स्वतंत्र होता, और जिसको चाहता, उसको प्यार कर सकता।' मनुष्य संपत्ति के विषय में भी इसी प्रकार की स्पृहा रखता है। जिसके पास कुछ नहीं है, वह सोचता है—'यदि मेरे पास इतना ही रुपया होता कि मैं जो चाहता, सो खा-पी सकता!' और जिसके पास थोड़ा-सा धन है, वह सोचता है—'यदि मेरे पास थोड़ा और धन होता।' इस प्रकार यह नहीं वह, ऐसा नहीं वैसा, इधर नहीं उधर, इतना नहीं उतना, थोड़ा और, बस ज़रा सा और,—यही सब मनुष्य के कल्पना-जगत् में रहता है, और ये अभाव मनुष्य-जीवन में वेदना रूप में व्यक्त होते हैं।

अब आए वेदना की मीमांसा कीजिए। दुःख में वेदना का स्पष्ट रूप रहता है, पर सुख में भी अस्पष्ट रूप से वेदना प्रति-फलित रहती है। हम जब कोई बहुत ही कोमल वस्तु का स्पर्श करके आनंद लाभ

करते हैं; तब यही तो अनुभव करते हैं कि ऐसी मृदुलता हमें पहले कभी उपलब्ध नहीं हुई थी। जब हम हास-रास और विलास में मग्न होकर एकदम नाच उठते हैं, तब यही तो व्यवहार-रूप में बतलाते हैं कि वास्तव में ऐसा नर्तन, ऐसी क्रीड़ा का आनंद हमें इससे पूर्व अथवा इससे सुदूर पूर्व कभी उपलब्ध न हुआ था।

अच्छा, थोड़ी देर के लिए अब आप ऐसे पुरुष की कल्पना कीजिए, जिसके जीवन में कोई अभाव न रहा हो; सुख-ही-सुख की गोद ने जिसका पालन-पोषण किया हो, जिसे कभी यह सोचने का अवसर न मिला हो कि—हाय, मैं यह न प्राप्त कर सका। जीवन-भर जिसको विलास के ही पालनों ने झुलाया हो। मान लीजिए, कि कोई ऐसा ही पुरुष है, पर एक दिन जब वह अपनी इहलीला समाप्त करेगा तब जीवन की अंतिम साँस के साथ उसके समक्ष कौन-सा दृश्य रहेगा? यही न कि हाय, अब यह सब छूट रहा है। इस प्रकार एक-न-एक अभाव मनुष्य अपने जीवन के साथ ले जाता है। यही उसकी वेदना है। कहानी इसी वेदना का जीवित और पूर्ण चित्र है।

× × ×

मेरी इन कहानियों में क्या-क्या है, यह मैं क्या बतलाऊँ। आप ही न इनको पढ़कर यह सब जान लीजिए। सौभाग्य से हिंदी जननी के प्रांगण में अनेक कहानी-लेखक हँस-खेल रहे हैं। आप उनकी कहानियों से बहुत कुछ आनंद उठा चुके हैं। इन कहानियों में भी आप कुछ पाएँगे, यह मै कैसे कहूँ। यदि इनमें वह कुछ मिले तो आप कहीं यह न समझ बैठें कि इनका रचियता पुस्तक-कीट है इसलिये उसने इनका मसाला कहीं-न-कहीं से अवश्य लिया होगा, यही डर मालूम होता है क्योंकि एक तो हिंदी-साहित्य के अलोचकों की दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि उन्हें मौलिक रचनाएँ पसंद ही कम आती हैं, दूसरे यदि कुछ पसंद भी आईं तो उनके सिर पर यह जानने का भूत बहुत जल्दी सवार हो

जाता है कि यह लेखक ऐसी रचनाएँ लिखता कैसे है। भावापहरण का संदेह तो ऐसे अवसरों पर प्रायः हो ही जाता है, और इसीलिये वे अन्य भाषाओं की रचनाओं के पृष्ठ उलटने लगते हैं। अतएव इस स्थल पर यह बात लिख देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि मेरी इन कहानियों की सृष्टि का रहस्य यदि वे महामान्य समालोचक जानना ही चाहें, तो इतना अवश्य जान लें कि ये सब कहानियाँ तीन दिन में नहीं लिखी गई हैं-इनके तैयार होने में लगभग दस वर्ष लगे हैं। इनके प्लाट मैंने काग़ज पर छपे हुए अक्षरों से नहीं अपने जीवन और संसार की विराट् चित्रशाला से चुराए हैं। मुझे अपनी इस चोरी पर अभिमान भी है क्योंकि इन कहानियों का आधार एक तो पाठकों को कहीं मिलेगा ही नहीं और यदि किसी कृपा-सागर ने कहीं से कुछ मिला ही दिया, तो उस दशा में मैं अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली समझूँगा। सोचूँगा-उन महामहिम लेखकों की कल्पना के किनारे तक मैं किसी तरह पहुँच तो सका!

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

दो शब्द

हिंदी के प्रसिद्ध लेखक श्री-युत भगवतीप्रसादजी बाजपेई का यह कहानी संग्रह बहुत शीघ्र ही बिक गया था और इसकी वर्षों से बहुत माँग रही, अतएव इसे हम पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। बाजपेईजी के साथ हमें गंगा-पुस्तकमाला में काम करने सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनके जीवन के प्रारंभिक-काल में ही। अत: उनके निकट संपर्क में हम आए हैं। वह दिन-दिन उन्नति कर रहे हैं और आज भारती-भाषा के प्रसिद्ध कथाकारों में उनकी गणना है। इनकी भाषा सरल, सजीव और मुहावरेदार होती हैं। उन्होंने आँख खोलकर संसार को देखा और समझा है और अपने रचित चरित्रों को वहीं से उन्होंने चुना है।

जब से भारती-भाषा (अर्थात हिंदी) हमारी राष्ट्र-भाषा घोषित हो चुकी है, हम हिंदी-भाषा भाषियों का यह कर्तव्य और भी दृढ़तर हो गया है कि हम उसके भांडार को और भी सुंदर ग्रंथ-रत्नों से भरें। जब हिंदी पुस्तकों की बिक्री बहुत कम थी और उसे राजाश्रय भी प्राप्त न था, तब से, सन् १६२३ से, हमने हिंदी-सेवा प्रारंभ की है। सन् १६१७ में गंगा-पुस्तक माला का प्रारंभ हो गया था। तब से अब तक हम ७०० से ऊपर पुस्तकें हम प्रकाशित कर चुके हैं। पर यह संख्या भारती-भाषा की आवश्यकता देखते हुए बहुत कम है। हमारे जीवन का यह उद्देश है कि भारती-भाषा के भव्य भांडर को २००० नव्य रत्नों से भरें—"माता के मंदिर को २००० पुस्तक-पुष्पों की सुगंध से सुरभित करें। हमारा यह ध्येय तभी पूरा हो सकता है, जब हमारे कृपालु विधा-व्यसनी भारती-भाषा-भाषी भाई-बहन हमारा करावलंब करें।

हमारी इच्छा है कि प्रत्येक नगर और प्रधान क़स्बे में हम अपनी पुस्तकों और तमाम भारत-भर के प्रकाशकों की पुस्तकों के लिये लिये विशेष वितरक नियुक्त करें। जो भाई-बहन उसमें हमारी सहायता करके स्वयं भी हिंदी-सेवा का पुण्य लूटना चाहें और आर्थिक लाभ भी काफ़ी

उठाना चाहें, वे हमसे विशेष-वितरक बनने के नियम मंगवा लें। हम उनकी सेवा करके प्रसन्न होंगे।

गंगा-पुस्तकमाला,
लखनऊ- १०-१-५५ | दुलारेलाल

सूची

अन्याय

(१)

"अभी भोजन तैयार होने में कुछ देर है।"

"तो तब तक और कुछ सुनाइए। बहुत दिनों में तो मिलना हुआ है। देवीजी तो अच्छी तरह हैं ?"

"हाँ, सब मज़े में हैं। एक कहानी सुनाऊँ। सुनोगे ?"

"वाह ! नेकी और पूछ-पूछ !"

"अच्छा, सुनिए। लेकिन देखिए, बीच-बीच में कान-पूँछ न हिलाइएगा !"

"बहुत अच्छा सरकार !"

दोनों हँस दिए। मोहन इस तरह कहने लगे—"मैं अपनी मा का इकलौता हूँ, तुम यह जानते ही हो। अपरिमित प्यार से पला हुआ, सदा से निर्द्वंद और निरंकुश। कहानी का प्रारंभ जिस समय से होता है, उस समय मैं विद्यार्थी-जीवन छोड़ चुका था। इस संसार में जिसे सुख कहते हैं, उसके सभी सामान मुझे प्राप्त थे। निरंतर सुंदर-सुंदर पदार्थ मेरी आँखों के सामने आते रहते थे। स्वास्थ्य भी मेरा बुरा नहीं था। मित्रता भी ऐसे लोगों से थी, जो समाज में बहुत ऊँचे माने जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर की दया से मैं बहुत सुखी था। परंतु कभी-कभी मुझे थोड़ा-सा दुःख भी होता था। बात यह थी कि मेरी मा, और पिताजी, मुझसे अप्रसन्न रहते थे। उसका कारण भी था। वे लोग मेरा विवाह कर देना चाहते थे, और मैं उस समय इसके लिये तैयार नहीं था। मैं विवाह कर ही नहीं सकता, यह मैं नहीं कहता

था। मैं तो इतना ही चाहता था कि यह बात मुझ पर ही छोड़ दी जाय। जब कभी मुझे उपयुक्त पात्र मिलेगा, मैं विवाह कर लूंगा। कितने समय के भीतर कर लूँगा, इस विषय में, मैं वचन-बद्ध नहीं होना चाहता था। बस, यही कठिनाई थी, और इसी के कारण मेरे माता-पिता मुझसे अप्रसन्न रहते थे। लोग प्रतिदिन भगवान् से भिन्न-भिन्न प्रकार की याचना किया करते हैं : कोई धन चाहता है, कोई संतान, और कोई शांति। मैं तो बस इतना ही चाहता था कि मेरे माता-पिता मुझसे प्रसन्न रहें। सो उधर ४-५ वर्षों से मेरी यह याचना भी पूर्ववत् ही चल रही थी।"

"उस समय मेरे घर में स्त्रियों में एक मेरी मा थीं, दूसरी मेरी भावज। यह मेरे चचेरे भाई श्यामू की नवविवाहिता पत्नी थीं। उन्हें मैं भाभी कहता था। वह पछाँव की थीं। उनकी बृज-भाषा-मिश्रित खड़ी बोली मुझे बड़ी प्यारी मालूम होती थीं। इसी से मैं उन्हें प्रायः बहुत चिढ़ाया करता था। जब वह चिढ़कर बोलती थीं, मुझे उनकी स्वाभाविक भाषा की मधुरता में बड़ा मज़ा आता था। मैं जब खाने बैठता, तब वही मुझे खिलाने आती थीं। बस, उसी समय उनसे सब प्रकार की बातें हो जाती थीं। जब वह नई-नई आई थीं, तो कुछ दिनों तक मुझसे बहुत लजाती थीं, और मैं भी बड़ा गंभीर रहता था। उस समय तक किसी से मज़ेदार बातें करने का मुझे सुअवसर भी नहीं मिला था। पर अब उनकी दया और अपनी स्वाभाविक स्वेच्छा-चारिता से उनसे सब प्रकार की बातें होने लगी थीं। इससे मुझे बड़ा सुख मिलता था।"

एक दिन मैंने भाभी से कहा—"क्यों भाभी, अगर तुम मुझे मिली होतीं, तो कैसा होता?"

उन्होंने मुसकराकर कहा—"बड़ा अच्छा होता। मैं तुम्हें अपनी उँगलियों पर खूब नचाती।"

मैंने कहा—"या तो तुम्हीं मुझे नचातीं, या फिर मैं ही तुम्हें नचाता।"

भाभी—"यह न कहो, छोटे बाबू। मैं तो अब भी तुम्हें नचा सकती हूँ। अम्मा तुम्हें मेरे हाथों में दे-भर दें, तो मैं अब भी, इसी तुम्हारे ब्याह के संबंध में, तुम्हें नचा सकती हूँ।"

मैंने कहा—'ऐसा! इतनी हिम्मत है?–पर मुझे नचाना खेल नहीं है, रानी।"

भाभी ने हँसते हुए कहा—अब यह मैं कैसे कहूँ! कहती तो हूँ, अम्मा से पहले समझौता कर लो। यदि वह तुम्हारे ब्याह कराने का भार मुझ पर रख दें, तो मैं यह खेल अब भी दिखा सकती हूँ। बोलो, तैयार होते हो मेरी इस शर्त पर?

उसी साल मेरे एक संपादक मित्र मेरे लिये अपने पत्र में विवाह का विज्ञापन निकाल चुके थे। पचासों आवेदन-पत्र आए; पर खेद है, उनमें से एक भी मेरे योग्य पात्र नहीं निकला। अतएव भाभी का यह चैलेंज मुझे कुछ भी' महत्त्व का प्रतीत नहीं हुआ। फिर भी इस अवसर पर यदि मैं उनका यह चैलेंज स्वीकार न करता, तो मेरी हेठी होती थी। एक संतोष यह भी था कि स्वीकार करना-न-करना तो मेरे ही अधिकार की बात होगी, अतः हेठी की कोई चिंता ही नहीं करनी चाहिए। यही सोचकर मैंने कह दिया—"अच्छा, मैं तैयार हूँ, अगर अम्मा राज़ी हो जायँ, तो मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

दूसरे दिन से ही मा मुझ पर प्रसन्न थीं। मुझे उनकी प्रसन्नता से ज्ञात हो गया कि उन्होंने भाभी के मंतव्य पर अपनी सम्मति दे दी है।

(२)

अब भाभी मुझे और भी प्यार करने लगी थीं। उस दिन से उन्होंने अपने आपको कुछ बदल भी दिया था। रात को जब मैं फुलवारा से घूमकर लौटता, तो तिछत्ते पर मुझे कभी हारमोनियम का मधुर स्वर सुनाई पड़ता, कभी सितार का। मैं घर आकर सीधा तिछत्ते पर चला जाता। भाभी बाजा रख देती थीं। मैं जब बहुत आग्रह करता, तो एक-आध चीज़ और सुना देती थीं। बस।

उस दिन के बाद भाभी ने फिर अपने आप विवाह के संबंध में बातचीत करना बंद कर दिया। मैंने समझा, कदाचित् भाभी का ध्यान उधर नहीं है। मुझे यह सोचकर एक प्रकार का हर्ष ही हुआ, क्योंकि अब मा भी मुझ पर प्रसन्न रहती थीं। मैं विवाह के लिये निश्चिंत-सा हो गया।

उसी साल माघ के महीने में भाभी अपने नैहर गईं। उनकी छोटी बहन का ब्याह था। मुझे बहुत पहले से ही निमंत्रण मिला था। मैं विवाह से २ दिन पहले गया, और ४ दिन बाद लौटा। कन्या के विवाह में सम्मिलित होने के लिये कुछ पहले जाना तो उचित ही था, पर विवाह का सब कार्य निबट जाने के बाद भी, मैं वहाँ कुछ ठहर गया। यह मेरे-जैसे व्यक्ति के लिये अवश्य एक नई बात थी। पर यह कैसे हुआ, यह आगे खुल जायगा।

बरात आए ३ दिन हो चुके थे। चौथे दिन बरात बिदा हो जाने को थी। मैं अपने अलग कमरे में बैठा हुआ बंकिम बाबू का 'लोक-रहस्य' पढ़ रहा था। थोड़ी देर में ३-४ स्त्रियों ने एकाएक मुझे घेर लिया। इनमें एक भाभी भी थीं। "सब-की-सब हँसने लगीं। भाभी कह रही थीं—"अगर तुम्हें आज कृष्ण बनाकर, हम लोग नचावें, तो कैसा हो छोटे बाबू ?"

मैं उनके एकाएक आ जाने और इस तरह घेर लिए जाने पर मन-ही-मन बड़ा स्तंभित हो रहा था। सोचता था—आख़िर यह मामला क्या है! भाभी की यह बात सुनकर कुछ-कुछ समझ में आने लगा। मैंने कहा—'तुम लोगों ने तो एकाएक इस तरह आकर छापा मारा कि मैं एकदम घबरा गया। आख़िर इरादा क्या है?"

भाभी ने फिर मुसकिराते हुए कहा—मैंने कहा तो। सुना नहीं?

मैंने कहा—क्या? फिर तो कहो।

अब फिर सब-की-सब हँसने लगीं। मेरी छोटी सलहज (भाई के साले की पत्नी) के हाथ में ताश थे। बोलीं—"ताश खेलोगे? हम लोग ताश खेलने और तुम्हें नचाने आई हैं।"

मैंने कहा—"खेलूंगा।"

मैं ताश खेलने बैठ गया। थोड़ी देर में खेल जम गया। इतने में छोटी सलहज को किसी काम से चला जाना पड़ा, इसलिये गंडा फूट गया, और खेल अपने आप टूट गया। परंतु तुरंत ही एक और लड़की आ गई। भाभी ने उससे मेरा परिचय करा दिया। लड़की मेरे साथ खेलने लगी। वह ताश खेलने में चतुर थी। मैं भी बड़ा शौक़ीन था। लगातार भाभी पर ५ कोट किए! इसके बाद खेल बंद हो गया। सब लोग उठकर चले गए।

ताश खेलने के समय भाभी ने उस नवागंतुक लड़की का जो परिचय दिया था, वह यही था कि पास ही मुहल्ले में कोई वकील साहब हैं। यह उन्हीं की लड़की है, और इसी वर्ष मैट्रिक पास हुई है। लड़की का पहनाव बिलकुल अप-टु-डेट था। शरीर का गठन अति आकर्षक था। मैंने जब उसे पहले-पहल देखा, मेरा

हृदय उसकी ओर ताककर रह गया। उसकी बातचीत आकर्षक थी, और स्वर मधुर था। उस दिन बड़ी देर तक मैं उसी के ध्यान में लीन रहा।

(३)

रात ६ बजे जब भाभी मुझे भोजन कराने बैठीं, तो कहा—आज हम लोग (अर्थात् नगर की कुछ विशेष स्त्रियाँ, जो उसकी सखी थीं) 'राजसिंह' नाटक खेलेंगी।

मुझे भाभी की इस बात को सुनकर बड़ा कौतूहल हुआ। परंतु मैंने सोचकर कहा—"लेकिन मुझे कैसे दिखा सकोगी ?"

भाभी ने कहा—"हाँ, यही तो सोचने की बात है। नाटक बहुत अच्छा खेला जायगा। मेरी इच्छा थी कि इसे तुम देख सकते, तो अच्छा होता। परंतु लाचारी है। सखियाँ राज़ी न होंगी।"

मैं निराश हो गया, कहा—फिर ?

भाभी मुसकिराती हुई बोलीं—"परन्तु एक तरकीब है छोटेबाबू। मानो, तो कहूँ।"

मैंने बड़ी उत्सुकता से कहा—बोलो। मानूँगा क्यों नहीं ? मानने योग्य होगी, तो अवश्य मानूँगा।

भाभी—'मेरे पास अपनी अँगरेज़ी ड्रेस की दो कुमारी-पोशाकें बिलकुल नई रक्खी हुई हैं। उनमें से कोई एक पसंद करके पहन लीजिए। अभी आपके मूछ भी नहीं आई हैं। इकहरे बदन के आप हैं ही, और सौभाग्य से गोरे भी हैं। बिलकुल मिस मेकेंज़ी मालूम पड़ेंगी !"

मैं भाभी की युक्ति पर मन-ही-मन हँस रहा था। मैंने कहा—"आप सचमुच मुझे यह सलाह दे रही हैं, या कोरा मज़ाक़ कर रही हैं ?"

भाभी—"मज़ाक़ नहीं छोटे बाबू, मैं सचमुच ठीक कह रही हूँ।"

मैंने कुछ सोचकर कहा—"कैसी बातें करती हो? मुझसे तो यह न होगा।"

भाभी—"तो जाने दीजिये। आपकी इच्छा।"

भोजन करने के बाद मैं सोने चला गया। घंटा-डेढ़-घंटा हुआ होगा कि निकट के ही थिएटर-हॉल में हारमोनियम के मधुर स्वरों में मुझे कोरस का एक गान इस तरह सुनाई पड़ने लगा—

हम निर्बल अबलाएँ, दयानिधान,
काकी सरन जाएं?

गान इतना मनोमोहक था कि उसे सुन लेने के बाद मुझसे नहीं रहा गया। मैंने तुरंत भाभी को बुला भेजा। बड़ी मुश्किल से वह आईं। मैंने उनसे अपना मंतव्य प्रकट किया। मछली को जाल में फँसा देखकर उन्हें उस समय कैसी प्रसन्नता हुई होगी, इस बात का अनुभव मैं उस समय नहीं कर रहा था। उन्होंने गंभीरता से कहा—"मैंने तो तुम से पहले ही कहा था। ख़ैर, अब भी सही।"

इसके बाद वह अपनी पोशाकें ले आईं। मैंने एक को बड़े उत्साह से पहन लिया। कॉलेज में भी एक-आध बार नाटक हुआ था, और मुझे स्त्री-पात्र बनना पड़ा था, इसलिये इस समय कुछ विशेष कौतूहल नहीं हो रहा था। इसके अतिरिक्त भाभी से भी मैंने कह दिया था कि वह इस बात को और किसी से प्रकट न करें।

पोशाक पहनकर मैंने बदन पर पाउडर लगाया। जब सब तरह से तैयार हो गया, तो भाभी ने मेरी ओर देखकर मुसकिरा दिया। मैंने पूछा—"क्यों, पहले जाल फेंकती हो, जब मैं फँस जाता हूं, तो हँसती हो?"

वह बोलीं—"यह बात नहीं है छोटे बाबू । न तो तुम उस तरह की मछली ही हो, और न मैं उस तरह की माझी । अभी तो तुम कमसिन हो, जाल में आते कहाँ हो !"

मैंने कहा—"अच्छा, यह बात है ! फिर हँसती क्यों हो ?"

वह बोलीं—"यही सोच रही थी कि यदि अपने नाटक में तुम्हें भी सम्मिलित कर सकती, तो कैसा अच्छा होता ! इस समय कौन तुम्हें मिस मेकेंजी नहीं कहेगा ?"

हम दोनों हँसने लगे

मैं अब चलने को तैयार था। उत्तर में मैंने भी कहा—'अच्छा डियर, अब मैं चलती हूँ ।"

नाट्यशाला की ओर भाभी बड़े उल्लास के साथ हँसती हुई जा रही थीं । मेरे हृदय में भी गुदगुदी-सी मच रही थी ।

(४)

नाटक मुझे बहुत पसंद आया । दिल्ली का स्त्री, समाज ऐसा उन्नत है, मुझे इसका पता नहीं था । यों तो नाटक की अनेक बातें बड़ी मनोमोहक थीं, परंतु सबसे अधिक जिसने मुझे मुग्ध किया, वह थी उसी वकील साहब की लड़की की नाट्य-कुशलता । दूसरे दिन सबेरे जब मैं ८ बजे सोकर उठा, तो सबसे पहले मैंने भाभी की खोज की । मालूम हुआ कि वह अभी सोकर नहीं उठी हैं । वह ९ बजे सोई थीं । ख़ैर । मैं नित्य-कर्म से निवृत्त होकर एक उपन्यास पढ़ने लगा । उपन्यास था रवींद्र बाबू का 'गौरमोहन' । मैं उसे एक बार पहले भी पढ़ चुका था । मेरा ध्यान उस समय रात के नाटक की ओर बार-बार चला जाता था । मेरे मन को जैसे कोई कोंच-कोंचकर उसी लड़की की मुख-छवि की ओर लिए जा रहा था। पर तुरंत ही मैं यह भी सोचने लग जाता था कि इस लड़की के संबंध में भाभी से अब

और अधिक पूछ-ताछ करना ठीक नहीं है। उन्हें मुझ पर सन्देह हो जायगा। यदि मैं ऐसा सौभाग्यशाली होता कि इस लड़की को पा सकता—यदि मैं इसके योग्य होता—तो इस प्रकार का संदेह होने देना भी अनुचित न होता। बड़ी देर तक मेरे हृदय में इस तरह के विचार आते रहे।

थोड़ी देर में नाश्ता आया, और ज्यों ही मैं उसे करने लगा कि भाभी आ गईं। उनकी आँखें यद्यपि अलसाई हुई थीं, नींद पूरी नहीं हो पाई थी, फिर भी मुसकराते हुए उन्होंने मुझसे पूछा—"कहो, नाटक कैसा रहा?"

मैंने कहा—"बहुत सफल। इसके लिये बधाई!"

इसके बाद उन्होंने पूछा—"क्या-क्या आपको अधिक पसंद आया?"

मैं—ऐक्टिंग अच्छी थी। विशेषकर वकील साहब की लड़की की। गान भी अच्छे थे। सीन-सीनरियां भी कम आकर्षक नहीं थीं।

वह—तो रात में आपका समय व्यर्थ नहीं गया।

मैं—"क़तई नहीं। बल्कि बहुत अच्छा बीता। कसर सिर्फ एक ही थी। और, वह यह कि साथ में तुम नहीं थीं। नहीं तो साथ-साथ आलोचना भी होती जाती। ऐसे अवसर पर दो मित्रों के पारस्परिक भावों के आदान-प्रदान में बड़ा आनंद आता है।"

वह—"हां, यह तो ठीक है। पर यह तो कहो, कोई तुम्हारी ओर मुख़ातिब तो नहीं हुआ था? किसी से छेड़-छाड़ तो नहीं हुई थी?"

मैं—"हुई थी। पर मैं सभी बातों को बहुत संक्षेप में टालता गया। अधिक घनिष्ठता से बातें करने में भेद खुलने का भय था।"

इसके पश्चात् २ दिन और रहकर मैं चला आया।

(४)

घर आने पर मैं फिर पूर्ववत् रहने लगा। एक दिन मैंने वकील साहब की लड़की के बारे में कुछ विशेष जानना चाहा, क्योंकि मुझे

उसकी याद नहीं भूलती थी। उसकी चंचल और आँखें मेरे मन में बस गई थीं। स्टेज पर उसने एक बार मुसकिरा भी दिया था। उस समय मुझे उसकी वह अदा कितनी प्यारी मालूम हुई थी! ये सब दृश्य मेरी आँखों के सामने से न टलते थे। हाँ, तो भाभी ने बतलाया था कि लड़की का नाम है 'पद्मा'। बड़ी हँसमुख और विनम्र है। शिक्षा कहाँ तक है, सो मैं जान ही चुका था। रूप पर मैं मुग्ध ही था। इस प्रकार बार-बार मेरे मन में यह बात आने लगी कि पद्मा मुझे मिल जाती, तो मैं कितना सुखी होता!

एकाएक मेरे यहाँ दुर्घटना हो गई। मेरी चाची बहुत बीमार पड़ गईं। खाँसी उन्हें बरसों से आती थी। शरीर की दुर्बल थीं। कुछ महीनों से ज्वर भी आने लगा था। बीच-बीच में २–४ दिनों के लिये ऊपर से स्वस्थ भी मालूम पड़ने लगी थीं। पर अब यह स्पष्ट हो गया कि ज्वर उनके शरीर में बस गया है। फिर भी चिकित्सा बड़े मनोयोग से हो रही थी। गरमी के दिनों का प्रारंभ था। डॉक्टर साहब की सलाह से पहाड़ पर जाने की ठहरी। मुझे वहाँ ५ मास रहना पड़ा। वहाँ का जल-वायु इतना स्वास्थ्यकर था कि मैं तो सवाया होकर लौटा। साथ में मा और चाचा जी भी थे। चाचा साहब रात-दिन चिकित्सा-विधान में चिंतित रहते थे। मा का भी यही हाल था। वह भी चाची की दशा पर रोया करती थीं। आश्विन-मास में हम लोग पहाड़ पर से लौट आए। पहाड़ पर यों तो थोड़ी दौड़-धूप मुझे भी करनी पड़ती थी। फिर भी मैं आनंद से था। कभी-कभी घर से अकेला निकल जाता, और पार्वत्य-प्रदेश की प्रकृति-छटा का अवलोकन करते-करते अपने भविष्य-जीवन की कल्पना में निमग्न हो जाता था। सोचता था—पहले से ही अमुक बँगला ले लिया जाया करेगा। गरमी के भयंकर दिन उसी में आनंद से बिताया करूँगा। परंतु 'पद्मा' का नाम हृदय में काँटे की तरह चुभता था। भला वह मुझे कैसे

मिलेगी ? हाँ, अगर भाभी चाहें, और थोड़ी कोशिश करें, तो उसका मिलना वैसा कठिन भी नहीं है ।

परंतु भाभी से कहा कैसे जाय ? फिर भी जी में आता था कि यदि हृदय की उन्हें ज़रा भी परख होगी, वह बहुत कुछ समझ गई होंगी, कि मैं उसे चाहने लगा हूँ । उसके विषय में बार-बार पूछने की बेशरमी अख़्तियार करने का मतलब और हो ही क्या सकता है ! परंतु रह-रहकर यह भी ध्यान आता था कि भाभी ने कहा था—उसके विवाह की कहीं बातचीत हो रही है । जब विवाह की बातचीत हो रही है, तो अपने लिये उसकी आशा करना कोरी मृगतृष्णा ही है ।

इसी तरह के, अनेक प्रकार के, विचार मेरे मन में आते-जाते थे । किंतु यहाँ आने पर यह सब भूल गया था; क्योंकि यहाँ चाची की तबियत फिर एकाएक बिगड़ गई थी । १४ दिन से उनकी मृत्यु की घड़ियाँ टल रही थीं । इसी तरह कुछ दिन और बीते, परंतु एक दिन चाची ने सदा के लिये आँखें बंद कर ही लीं ।

अब मेरे परिवार में सर्वत्र शोक छाया हुआ था । चाचीजी ने अपने जीवन में मा को कोई काम छूने नहीं दिया था । रुपए-पैसे का हिसाब रखना, मेहमानों का स्वागत करना, कोई ब्याह-जनेऊ होने पर उसका सारा प्रबंध करना आदि जितने उत्तरदायित्व के कार्य थे, उन सबका भार उन्हीं पर था । मुझे भी वह बहुत प्यार करती थीं । भाई साहब और मैं, दोनों उनके सामने एक समान थे । जब से अपने होश सँभाले, तब से हम दोनों भाई एक ही साथ, बल्कि एक ही थाली में, भोजन करते आ रहे हैं । इधर कुछ बरसों से, जबसे मैंने कॉलेज ज्वाइन किया, और वह घर-बाहर का सब हिसाब-किताब देखने लगे, तब से भोजन के समयों में अंतर हो जाने के कारण उस समय हम दोनों इकट्ठे नहीं हो पाते थे । फिर भी विशेष त्योहारों पर तो प्रायः साथ

हो ही जाता था। हम दोनो में यह सौहार्द-भाव देखकर चाची बड़ी प्रसन्न होती थीं। और, मैं भी उनको अपनी असली मा ही समझता था। अतः चाची की मृत्यु का मुझे भी बड़ा शोक हुआ?

चाचाजी बड़े गंभीर व्यक्ति हैं। उनके मन के हर्ष-विषाद का पता लगाना कठिन रहता है। वह लोगों से बहुत कम बातचीत करते हैं उनके मुँह से मतलब-भर की बातें ही सुन पड़ती हैं। उनके विषय में लोगों ने बहुधा यह शिकायत की है कि वह बड़े शुष्क प्रकृति के हैं। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। वह प्रकृति के बहुत उदार हैं। पर वह जल्दी खुल पड़नेवाले व्यक्ति नहीं हैं। इसीलिये लोग उनको समझने में भूल करते हैं। चाचीजी की मृत्यु का उन्हें हार्दिक शोक है। अम्माजी से इस संबंध में जब कभी बातें चली हैं, तो उनके सामने उनकी आँखें डबडबा आई हैं।

इस प्रकार इस शोक-पूर्ण घटना के कारण मेरे विवाह का प्रश्न फिर कुछ दिनों के लिये टल गया। हम लोगों के यहाँ यह एक पद्धति प्रचलित है कि जब घर में इस तरह की कोई बात हो जाती है, तो फिर साल-भर तक कोई ब्याह-जनेऊ नहीं होता। साल-भर शोक मनाया जाता है। ऐसी दशा में मेरा ब्याह कैसे हो सकता था?

(६)

चाचीजी की विधिवत् बर्षी हो गई। चाचाजी मृतक-क्रिया से निवृत्त हुए। अब परिवार का कार्य फिर पूर्ववत् चलने लगा। चाचीजी की अनुपस्थिति अवश्य खटकती थी। पर धीरे-धीरे सब काम ठीक तरह होने लगा। चाचीजी के कार्य कुछ तो मा के ऊपर आए और कुछ भाभी पर! अम्मा ने भी अनुभव किया कि प्रबंध के मामले में भाभी अपनी सास की तरह ही दक्ष हैं, और उनकी देख-रेख में सब काम ठीक तरह से हो रहे हैं।

एक दिन मैं सिद्धांत-रूप से भाभी से विवाह-संस्कार के विषय में बातचीत कर रहा था। मेरा कहना था कि आजकल माता-पिता अपने लड़के-लड़की का ब्याह जिस परिपाटी से करते हैं, वह सदोष है। जिनका विवाह किया जाता है, जिनको अपनी पत्नी अथवा अपने पति से जीवन-भर काम रहता है, उनकी कोई परवा नहीं की जाती, न उनकी कोई सम्मति ही ली जाती है। इसीलिये प्रायः यह विषमता पैदा हो जाती है कि न तो वर को अपनी रुचि के अनुकूल पत्नी मिलती है, और न लड़की को अपनी इच्छा के अनुसार वर। इसका परिणाम यह होता है कि वह दांपत्य-जीवन, जिसमें स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होनी चाहिए, किरकिरा रहता है। किसी पर किसी अन्य के रूप का जादू चल जाता है, तो किसी पर किसी के प्रलोभन और प्यार का। कोई अपने हृदय को उत्पीड़न दे-देकर उसकी हत्या करता है, तो कोई किसी दूसरी चिड़िया की याद में तड़प-तड़पकर जान देता है। न हृदय मिलते हैं, न एक दूसरे से हार्दिक सहानुभूति होती है। ऐसी दशा में यदि विवश होकर, सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिये, परस्पर पति-पत्नी संबंध हुआ भी, तो उससे जो संतान उत्पन्न होती है, वह प्रतिभाशाली नहीं होती। जो प्रकृति का विरोध माता-पिता में रहता है, वही उनकी संतान में भी आ जाता है। उसके विचारों में स्थिरता और दृढ़ता का अभाव-सा रहता है। वह जीवन में सदा असफल रहती है। यह कितने खेद की बात है कि इस दुष्परिणाम का सूत्रपात माता-पिता के ही हाथों से होता है! इसलिये पति-पत्नी का विवाह-सूत्र में बँधना पति-पत्नीकी इच्छा पर ही रहना उचित है।

इस पर भाभी ने कहा—"यह बात नहीं है छोटे बाबू। तुम लोग पाश्चात्य शिक्षा के रंग में रंग रहे हो। तुम चाहते हो कि विवाह होने से पूर्व पति को पत्नी बननेवाली कुमारी का और उस कुमारी

को भी अपने पति की प्रकृति का परिचय प्राप्त हो जाय—दोनों में पहले प्रेम हो जाय, तब विवाह हो। परंतु अपने समाज में क्या यह संभव है? तुम चाहते हो कि कुमारी को तुम्हारे साथ कर दिया जाय, उसे तुम पर छोड़ दिया जाय, प्रत्येक समय तुमसे मिलने दिया जाय। परंतु इसका परिणाम क्या होगा? थोड़ी देर के लिये मान लो कि कुमारी को तुमने पसंद कर लिया; परंतु वह तुम्हें नहीं चाहती, तो तुम निराश होकर दूसरा संबंध करने के लिये बाध्य हो। परंतु यदि दैवयोग से बात इसके प्रतिकूल हुई; अर्थात् तुम किसी और को चाहने लगो, और वह तुम्हारा ही स्वप्न देखती रहे, तब क्या होगा? भारतीय नारी क्या कभी एक घर छोड़कर दूसरा झाँकेगी?—क्या वह पहले कभी एक को पसंद करेगी, और उससे निराश होने पर फिर दूसरे पर भी दृष्टि डालेगी? क्या भारतीय नारी से तुम इस तरह की आशा करोगे? भ्रम है छोटे बाबू, निरा भ्रम।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। रूप का आकर्षण बड़ा बेढब होता है। इसे तो तुम अवश्य स्वीकार करोगे। विवाह होने से पूर्व जो बातचीत और व्यवहार परस्पर होता है, क्या वह मन और प्रकृति की एकता का सर्वथा द्योतक ही होता है? रूप के आकर्षण में आकर क्या कभी प्रतिकूल-प्रकृति कुमारियों से प्रेम होना संभव नहीं है? क्या ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि रूप के आकर्षण में पहले तो एक ने दूसरे को अपना लिया हो, परंतु विवाह होने के बाद ही फिर जीवन-भर पछताना पड़ा हो!

फिर भारतवर्ष में यह स्वतंत्रता उसके वर्तमान सामाजिक संगठन के बिलकुल प्रतिकूल है। एक दूसरे से प्रेम करनेवाले कुमार और कुमारियाँ केवल जाति-भेद के कारण नहीं मिल सकते। हमारा वर्तमान सामाजिक संगठन अच्छा है या बुरा, यह निश्चय करना दूसरी बात

है। मुझे इस समय इस विषय से कोई प्रयोजन नहीं है। परंतु यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि समाज के वर्तमान संगठन में यह वैवाहिक स्वतंत्रता असंभव-सी है।

अब तक माता-पिता की इच्छा और चुनाव पर जो विवाह-प्रथा जारी है, यह बात नहीं है कि वह सर्वथा अनुपयुक्त ही है। समाज में शिक्षा का प्रभाव समयानुसार अपना काम करता ही रहा है। हम लोगों के यहाँ लड़कों के जो विवाह होते हैं, क्या वे कभी ऐसे भी हुए हैं, जिनमें परिवार के किसी-न-किसी व्यक्ति ने कुमारी कन्या के रूप, गुण तथा प्रकृति का परिचय प्राप्त किए बिना ही उसे अपने लड़के से ब्याह दिया हो ? हमारे समाज में यह कभी संभव ही नहीं कि अपने कुटुंब, वंश और संबंधियों के स्थानों का परिचय देने पर उनके स्थान, उनके समाज अथवा मुहल्ले के व्यक्तियों का पता लग जाय। इस तरह प्रायः बिलकुल अपरिचित व्यक्ति के यहाँ का भी बहुत कुछ समाचार मिल ही जाता है। और थोड़ा प्रयत्न करने पर लड़की के रूप, गुण और प्रकृति आदि का भी पता लग जाता है। इस तरह सब कुछ समझ-बूझकर जो माता-पिता अपने पुत्र का विवाह करते हैं, क्या उनके परिवार में उससे कभी कोई अशांति हुई है ? इसके विपरीत ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि आजकल पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित युवकगण रूप की मादकता में आकर ऐसी कुमारी को अपना लेते हैं जो बिलकुल प्रतिकूल प्रकृति की होती है और फिर जीवन-भर उन्हें अपने हृदय से युद्ध करते हुए बीतता है। कभी वे उसका उन्नत चरित्र समझने में भूल करते हैं, कभी और कोई संदेह उनके हृदय का साँप हो जाता है। परिणाम यह होता है कि गार्हस्थ जीवन जो शांतिप्रद और सुखकर होना चाहिए, अशांति का घर हो जाता है।

भाभी की शिक्षा-दीक्षा से मैं परिचित था; पर मुझे उनके इन विचारों को सुनने का कभी अवसर नहीं मिला था। इसीलिये उनकी उपर्युक्त बातें सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था। कभी-कभी मैं अपने मन में सोचने लगता था कि भाभी की अमुक बात का अमुक उत्तर है, अमुक बात असत्य है; परन्तु फिर भी न-जाने क्यों मेरे मन में बार-बार यही बात आ रही थी कि भाभी का यह मत सर्वथा मान्य नहीं भी हो, तो भी उसमें कुछ सत्य अवश्य है, और यह बात भी नहीं है कि वह विचारणीय ही न हो।

अब मुझसे नहीं रहा गया। मेरे मुँह से झट से निकलगया—"भाभी, सच मानो, मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे ऐसे विचार हैं। यद्यपि मुझे अभी बहुत कुछ कहने का अवसर है, तो भी मैं यह मानता हूँ कि विवाह की प्राचीन परिपाटी एक दृष्टि से बुरी भी नहीं है।"

(७)

मेरा विवाह हो रहा था। पर मुझे यह नहीं ज्ञात था कि जो आत्मा मुझे मिल रही है, वह कौन है। बार-बार एक विचित्र प्रकार की अप्रत्याशित कल्पना मेरे मन में उठ रही थी। कभी-कभी यह भी सोचने लगता था कि यह झंझट भी तो मैंने ही पाला है। अपरिचित प्राणी के साथ यह संबंध! और मैं स्वयं कर रहा हूँ!! इसी समय न-जाने कहाँ से मुझे 'पद्मा' का स्मरण हो आया। "आह! यदि कहीं वही मिल जाती, तो मैं कितना सुखी होता।"

भाभी ने मुझे बता रक्खा था कि 'पद्मा' का विवाह तो गत वर्ष ही हो गया। इसलिये उसकी स्मृति मेरे हृदय में काँटे की तरह चुभ रही थी। विवाह-मंडप की ओर बढ़ते हुए मैं यही सब सोच रहा था।

यह संबंध भी भाभी के द्वारा ही हुआ था। यदि मैं चाहता, तो भाभी से पूछकर इसका कुछ परिचय प्राप्त कर सकता था। पर उस

दिन के बाद फिर कभी मैंने इस संबंध में भाभी से कुछ बातचीत नहीं की। मुझे इस समय इस बात पर भी बार-बार क्रोध आ रहा था कि मैंने ऐसा क्यों किया?

मैं इसी प्रकार के प्रतिद्वंद्वी विचारों की उलझन में पड़ा था। मेरा एक-एक क्षण बड़ी कठिनाई से कट रहा था। थोड़ी देर में मैं विवाह-मंडप के नीचे आ गया।

× × ×

विवाह-संस्कार हो गया। मेरा मन बार-बार घर चलने को उतावला हो रहा था। बार-बार मैं यही सोच रहा था कि कब भाभी मिलें, और मैं उनसे दो बातें करूँ।

तीन-चार दिन बाद मैं घर आ गया। इन दिनों मैं यही सोचा करता था कि भाभी से मिलूँगा, तो पहले अमुक वाक्य कहूँगा, और उसके पश्चात् अमुक। कभी यह भी सोचता था कि अब वह मुझसे कैसे मिलेंगी। पहलेपहल मुझ से क्या कहेंगी।

अंत में वह समय भी आ गया। भाभी एक नवीन साड़ी पहने मुसकिराती हुई मेरे सामने थीं, बोलीं—"कहो छोटे बाबू, कैसी चीज़ दिलाई?"

मैंने कहा—"जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलता। मैं नहीं जानता था, तुम ऐसी कठोर-हृदय निकलोगी।

भाभी फिर भी हँस रही थीं। बोलीं—अच्छा बोलो, मैंने तुम्हें अँगुलियों पर नचाया कि नहीं?"

मैंने हँसते हुए कहा—"इसीलिये तो कहता हूँ, कि तुम बड़ी कठोर हो।"

× × ×

पद्मा कह रही थी–' दिदिया, तुमने मेरे साथ भी 'अन्याय' किया। कहीं से भी मुझे यह जानने का अवसर नहीं दिया कि मेरे 'वही' तुम्हारे

'ये' होने वाले हैं। विवाह के पहले मैं तो मरी जा रही थी।"

भाभी—"जानती हो, इस अन्याय को कैसे संभव किया गया?"

पद्मा ने हँसते हुए कहा—कैसे? बताओ न।

भाभी—"अब यह सब उन्हीं से पूँछना। यह अन्याय अब एक कहानी हो गया है।"

मोहन ने इसके बाद कहा—"कहानी हो गई, चलो, अब खाना खा लो। वहीं इस पर तुम्हारी राय सुनूँगा।"

सत्य की जय

(१)

उमा ने वृद्ध पिता की हार्दिक वेदना का अनुभव करते हुए कहा—"भैया, इस वर्ष तो खेतों में कुछ भी पैदा नहीं हुआ। किस तरह ज़मींदार को लगान अदा करोगे, किस तरह खाने का काम चलेगा?"

प्रताप—"जो ईश्वर को करना है, वही होगा, मैं क्या कर सकता हूँ। ज़मींदार को लगान देना है, महाजन का ऋण चुकाना है, और साल-भर इसी से पेट भी भरना है।"

उमा—"भैया, यह तो बिलकुल थोड़ा है। जो तुम गिना रहे हो, उनमें से एक भी इतने से नहीं निपट सकता, फिर कैसे काम चलेगा?"

प्रताप—"उमा, तू किसी बात की चिंता मत कर। मैं जब तक जीवित हूँ, तेरा पेट भरूँगा। ज़मींदार के लगान और महाजन के ऋण की चिंता तू क्यों करती है?"

पिता के साहस और प्रेम-भरे वाक्यों को सुनकर उमा चुप हो गई, किन्तु कुछ क्षणों के पश्चात् वह सोचने लगी—"जब कि जीवित हैं, यह भी सहारा है; जब न रहेंगे, तब कौन मुझे धीरज देगा—कौन इस प्रकार प्यार करेगा? मेरा यह जीवन........."

अचानक प्रताप ने कहा—"उमा, तू क्या सोचती है? तुझसे कितनी बार कहा कि व्यर्थ की बातें सोचकर तबियत ख़राब न किया कर!"

उमा ने अपना सिर झुका लिया, और कुछ उत्तर न दिया, किन्तु कई बार प्रताप के बुलाने पर उमा ने कहा—"यही तो मैं सोचती हूँ। तुम्हारा यह प्यार भी मेरे अभागे जीवन में कितने दिन के लिये है! कितने दिन तक तुम मेरा साथ दे सकोगे? इसके बाद फिर मेरे इस जीवन का........"

उमा के नेत्रों से आँसू निकलकर ज़मीन पर टपकने लगे। कंठ अवरुद्ध हो गया, वह अधिक न कह सकी। उमा की बातों से प्रताप के अन्तःकरण में वज्र-सा लगा। जिन बातों को वे भुला-भुलाकर किसी प्रकार अपने जीवन को काट रहे थे, आज उन्हीं बातों को उठाकर उमा ने प्रताप के हृदय में एक आँधी-सी उत्पन्न कर दी। प्रताप कुछ क्षणों तक सोचते रहने के पश्चात् सचेत हुए। उन्हें उमा को धैर्य देने का ज्ञान हुआ। अपने हृदय की विवशता को रोककर प्रताप ने कहा—

"उमा, तू थोड़ी देर के लिये अपने आपको भूल जा और संसार की ओर देख, तुझे दिखाई देगा कि एक-दो नहीं, अनेक तुझसे भी कहीं गए-गुज़रे हैं। ऐसे दृश्य देखने को मिलेंगे, जो तुझसे बहुत अधिक दुर्भाग्य का जीवन बिता रहे हैं। कितने ही ऐसे जीवन देखने को मिलेंगे, जिनको देखकर तू बात-की-बात में घबरा सकती है; परंतु उनके जीवन पार हो रहे हैं। बात यह है कि तू अभी संसार की लीला और ईश्वर के चरित्र को नहीं जानती। वह जिसे बिगाड़ता है, उसके लिए भी कुछ-न-कुछ प्रबंध रखता है। जिन्हें बिलकुल निराश और हतभाग्य बना देता है, उन्हें वह कुछ ऐसी शक्तियाँ देता है, जिससे वे भी किसी-न-किसी प्रकार संसार में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर सकें।"

पिता की सरल, किन्तु अत्यन्त गंभीर बातों को उमा ने ध्यान-पूर्वक सुना, किन्तु उसे सन्तोष न हुआ। पिता की बात समाप्त होने पर उसने अपनी आँखों के आँसुओं को धोती के एक किनारे से पोंछते हुए कहा—"यह तो मैं खूब देख रही हूँ। जिसने मुझे इस प्रकार हत-भागिनी बनाया था, उसने मुझे आज एक भाई भी न दिया, जिसे देखकर मेरे आँसू रुकते। ईश्वर की लीला या संसार का जीवन मैं खूब देख रही हूँ, और क्या देखूँ ?"

अभी तक प्रताप किसी प्रकार अपने हृदय को थामे हुए बैठे थे; किंतु उमा की बात सुनकर उनका कलेजा फट गया। उन्होंने चाहा कि उमा के पास से जाकर कहीं एकांत में खूब रो लें। किंतु आँखों से कुछ आँसू गिर जाने के पश्चात् उन्होंने उमा की ओर देखा। वह एक ओर देखकर रह गई थी, और उसकी आँखों से आँसुओं के बूँद निकलकर धीरे-धीरे मोती के समान पृथ्वी पर गिर रहे थे। उमा के मुख को एक बार देखकर वह सोचने लगे—"ईश्वर, तू ने यह क्या किया है ? मैं किस प्रकार इसे समझाऊँ—किन शब्दों से इसे धीरज दूँ ? मैं अपने आपको किसी प्रकार समझा-बुझाकर शांत करता हूँ, किंतु उमा को समझाने के लिये मेरे पास शब्द नहीं।"

उमा की अस्थिरता रुकी, उसने अपनी धोती के एक किनारे को हाथ में लेते हुए कहा—"भैया, कदाचित् तुम्हें मालूम नहीं है, कल ज़मींदार का कोई नौकर आया था। वह तुम्हें बुला रहा था। कहता था, लगान लेने आया हूँ।"

प्रताप—"लगान दिया ही जायगा। हम कुछ सोच रहे हैं। पैदावार बिलकुल नहीं हुई, करें क्या ? किससे किसका अदा करें।"

(२)

प्रतापनारायण किशनपुर के एक कुलीन ब्राह्मण हैं। उमा

उनकी इकलौती बेटी है। ईश्वर की लीला बड़ी अगम्य है। वह एक ही व्यक्ति में एक ओर गुण, रूप और अनेक विशेषताओं की भरमार करता है, और दूसरी ओर उन विशेषताओं के ठीक प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है, जिससे कभी उन बातों का सदुपयोग नहीं हो पाता। यही अवस्था आज उमा की है। बालपन से ही वह सुशील, समझदार और गंभीर है, अपने मा-बाप की एकमात्र संतान होने के कारण बहुत प्यारी-दुलारी रही। प्रताप साधारण स्थिति के आदमी थे। पहले सोचते थे—उमा का विवाह एक सुन्दर स्थान पर करके हम उऋण हो जायँगे, फिर हम दो प्राणी रह जायँगे, किसी प्रकार गुज़र-बसर करेंगे। आध सेर आटे का प्रबंध हो ही जाया करेगा। अब उसका विवाह करने के पश्चात् प्रताप भिक्षा माँगने के लायक़ रह गए थे, परन्तु फिर भी दहेज पूरा-पूरा अदा न हो सका था। भाग्य का चक्र कोई नहीं जानता। उमा विवाह के दो वर्ष के भीतर ही विधवा हो गई थी। सास-ससुर का संरक्षण न पाकर वह मा-बाप के पास चली आई थी, मा को भी मरे हुए आज से लगभग एक वर्ष हो गया।

उजागरसिंह किशनपुर के ज़मींदार हैं। सारे गाँव में उनका प्रभाव है। लोग उनसे भय खाते हैं। एक दिन वे प्रताप के द्वार पर आए, और उन्हें बुलाया—"प्रताप"।

प्रताप उस समय घर पर न थे। उमा ने भीतर से उत्तर दिया—"वे कहीं बाहर गए हैं।"

उजागरसिंह ने घर में प्रवेश किया, और भीतर आँगन में जाकर कहा—प्रताप कहाँ गए हैं?

उमा अकेली बैठी हुई पंखा बला रही थी। उजागरसिंह को सामने देख, सँभलकर बैठती हुई बोली—"वे तो कहीं बाहर काम से गए हैं।"

उमा के इन शब्दों के कहते-कहते वह उमा के थोड़ा और पास

आकर बैठ गए, और कभी घर के इधर-उधर और कभी उमा की ओर देखने लगे। उजागरसिंह को उमा बहुत दिनों से जानती है। सदा से उन्हें देखा है; परंतु एकांत में पास बैठने का आज उसे पहला ही अवसर। ज़मींदारों और रईसों के चरित्र-संबंधी जैसी बातें होती हैं, वैसी अनेक बातें वह उजागरसिंह के संबंध में भी सुन चुकी है। आज उजागरसिंह को अपने घर में अकेले बैठे देखकर उसका हृदय अनेक प्रकार के संशयों में डूबने-उछलने लगा।

उजागरसिंह ने पूछा—"प्रताप कब तक आवेंगे? हमने कई बार आदमी भेजा, पर न तो वह स्वयं मिले, और न तुमने ही उन्हें हमारे पास भेजा। अभी तक लगान नहीं अदा हुआ। क्या तुमने उनसे कुछ कहा नहीं?"

उमा मस्तक नीचा किए हुए बैठी थी। उसने उजागरसिंह की बात समाप्त होने पर कहा—"मैंने उनसे कहा है, और वह आपका लगान चुकाने के प्रबंध में ही हैं।"

उत्तर देकर उमा सोचती थी, अब वे कदाचित् उठकर चले जायँगे, परंतु ऐसा नहीं हुआ। कोई बात न होने पर भी उजागरसिंह ने एक नवीन बात छेड़कर पूछा—"उमा, तुम्हारी ससुराल में कौन-कौन है?"

उजागर की बात सुनकर उमा घबरा उठी। वह सोचने लगी—यह तो बड़ी लंबी बात है, अनेक बातें करने और विलंब तक बैठने का उसे समय मिल रहा है। वह सोचने लगी—मैं क्या उत्तर दूँ कि वह आगे बातें न कर सके, और उठकर चला जाय। बड़ी देर तक सोचने के बाद उसने कहा—"मेरे ससुराल में सौतेली सास, ससुर और उनकी दो लड़कियाँ हैं।"

उजागरसिंह—"तुमको वे कभी बुलाते नहीं हैं?"

उमा अब बहुत घबराई। वह एक-एक क्षण किसी प्रकार काट रही थी, और प्रत्येक क्षण उनके उठ जाने की प्रतीक्षा करती थी। अभी वह उत्तर भी न दे सकी कि अचानक रामलाल की मा आ गई; किंतु उजागरसिंह को देखकर, तुरंत लौट पड़ी। उसे देखकर उमा को धीरज हुआ, किंतु उसके लौटते ही उसने घबराई हुई आवाज में बुलाया—"चाची आओ, क्यों लौटी जाती हो?"

रामलाल की मा उमा की बात सुनने पर भी वहाँ ठहर न सकी, और लौटकर चली गई। उमा ने साहस करके उजागरसिंह से कहा—"रामलाल की मा आई थीं। वे आपसे परदा करती हैं। उन्हें यहाँ आना है। उनसे कुछ आवश्यक काम भी है।"

उमा ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ यह बात कही, और कहकर सोचने लगी, अब तो ये चले ही जायँगे।

उमा की बात सुनकर उजागरसिंह आग-बगूला हो गए। वे मन-ही-मन कहने लगे—"इसी कारण तो तेरी यह दुर्दशा हुई है, रामराल की मा सब कुछ हुई, मुझसे बातें करने में बड़ा कष्ट होता है।" एकाएक उमा ने उसकी ओर देखा, वह आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देख रहा था। उमा ने अपनी आँखें नीचे कर लीं।

उजागरसिंह ने जलकर प्रकट में कहा—"हमारे बैठने से कुछ कष्ट होता है, तो हम चले जायँ?"

उमा ने धीमी आवाज़ में कहा—"कष्ट की बात नहीं है, रामलाल की मा आना चाहती हैं, उनसे कुछ काम है।"

उमा की बातों की चालाकी उजागरसिंह से छिपी न थी। वे और भी अप्रसन्न होकर कहने लगे—"अच्छा, तो हम और किसी समय आवें?"

"उमा ने कुछ उत्तर न दिया।"

उजागरसिंह ने फिर कहा—"तुम तो कहती हो कि कष्ट की कोई बात नहीं है, रामलाल की मा आना चाहती है, इसलिये मैंने पूछा कि हम और किसी समय आवें ?"

उमा ने साहस के साथ उत्तर दिया—'भैया आवेंगे, तो मैं उनको आपके पास भेज दूंगी।"

उमा की बात उजागरसिंह के हृदय में बाण-सी लगी। वे उठकर खड़े हो गए और बोले—"हमारे होने पर रामलाल की मा से काम है; पर रामस्वरूप जब आता है, तब किसी से काम नहीं रहता।"

उमा ने कुछ उत्तर न दिया, उजागरसिंह घर से निकल-कर चले गए।

(२)

रामलाल की मा ने जब से उजागरसिंह को उमा के घर में देखा है, वह घर-घर कहती फिरती है—"बहन, अंधेर हो गया! कल मैं यों ही उमा के घर पहुँची, तो देखा कि उजागरसिंह उसके भीतर एक कोठरी से निकल रहे थे, और पीछे-पीछे उमा थी!" रामलाल की मा के मुख से इस बात के निकलने पर सारे गाँव में बात-की-बात में यह बात फैल गई। घर- घर और स्थान-स्थान पर ये ही चर्चा होने लगी। गाँव के सैंकड़ों स्त्री पुरुषों ने इस बात को सुना। उजागरसिंह के गुंडों और गुप्तचरों ने इस बात को सुनकर उजागरसिंह को बड़ी-बड़ी बधाइयां दीं।

उमा ने जब से इस अपवाद को सुना है, उसे किसी के सामने अपना मुख दिखाने का साहस नहीं होता। अकेले अपने घर पर पड़े-पड़े रात-दिन रोया करती है। जिस दिन उजागरसिंह घर आए थे, उसी दिन प्रताप के आने पर उमा ने तुरंत उजागरसिंह के आने की सारी बातें प्रताप से कह दी थीं। पर उसे क्या मालूम था कि यह बात

इस तरह तिल का ताड़ बन जायगी। वह क्या जानती थी कि मेरे भाग्य में इस प्रकार के अपवाद भी सुनने को लिखे। बात प्रताप से भी छिपी न रही। जिस दिन से उन्होंने ने यह बात सुनी, उसी दिन वह अनमने होकर दृष्टि नीचे किए गांव में निकला करते थे एक दिन वे कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा, कई एक स्त्रियाँ एक स्थान पर खड़ी हुई बातें कर रही हैं। समीप आने पर प्रताप को सुनाई पड़ा—

"बूढ़ा बाप बेचारा क्या करे? पेट के लिये दिन-भर मारा-मारा फिरा करता है। उसे घर पर बैठे-बैठे यह सूझता है! न मा-बाप की इज़्ज़त का ख़्याल है और न सास-ससुर के नाम बदनाम होने का रंज।

प्रताप यह सुनते हुए जा रहे थे किंतु कलेजा फटा जा रहा था। वे घूमकर दूसरे मार्ग से अपने घर लौट पड़े। द्वार पर आने के पूर्व अचानक रामस्वरूप को देखकर पूछा—"भैया रामस्वरूप तुम, कब आए?"

प्रताप को देखकर रामस्वरूप ने प्रणाम किया, और उत्तर दिया—"मैं आज प्रातःकाल ही आया था!"

रामस्वरूप से बातें करते प्रताप अपने घर पहुंचे। उमा बैठी हुई लालटेन जला रही थी। रामस्वरूप को देखकर उमा के हृदय में क्षण-भर के लिये अचानक प्रकाश-सा हो गया। मानो वह उसकी प्रतीक्षा में ही थी। प्रताप बैठ गए। रामस्वरूप भी उनके पास ही बैठकर बातें करने लगा। बातें करते हुए प्रताप ने कहा—"रामस्वरूप, तुम हमें कहीं में नौकरी नहीं दिला सकते? क्या हम अपनी रोटियों-भर के लिये भी न पैदा कर लेंगे?"

रामस्वरूप—"भैया, आप इस अवस्था में नौकरी क्या कीजिएगा। ये दिन तो विश्राम करने के हैं; परंतु ईश्वर की मर्ज़ी"।

प्रताप—"बेटा, विश्राम न यहाँ है, और न वहाँ होगा। हमें तो यहाँ भी हाथ पटककर आध सेर आटे का प्रबंध करना पड़ता है, और वहाँ भी करना पड़ेगा।"

प्रताप से बातें करते हुए रामस्वरूप ने उमा से कहा—"उमा, आज बिलकुल चुपचाप बैठी है। क्या रोटी-ओटी नहीं खिलाना चाहती?"

उमा ने कुछ भी उत्तर न दिया। प्रताप ने कहा—"रोटी देगी क्यों नहीं, तुम्हारा घर है। खाओ, तुम्हें कौन रोक सकता है?"

रामस्वरूप से प्रताप बातें कर ही रहे थे, इतने में उजागरसिंह ने दरवाज़े से प्रताप को बुलाया। प्रताप निकल कर उजागरसिंह के पास चले गये। उमा चुप चाप बैठी रो रही थी। रामस्वरूप ने उसकी ओर देखकर कहा—"उमा, क्या बात है? क्या मैं तुम्हारे रोने का कारण जान सकता हूँ?"

उमा ने आंखों के आँसू पोंछकर कहा—"कुछ नहीं मेरा दुर्भाग्य है, उसे जानकर तुम क्या करोगे।

रामस्वरूप—"यदि कुछ हानि न हो और कोई व्यक्तिगत बात न हो, तो मैं उसे सुनना चाहता हूँ।"

उमा—"भैया, तुमसे तो कुछ भी व्यक्तिगत बात नहीं है, किंतु कैसे कहूँ कि उसके प्रकट करने में मेरी ही हानि है या नहीं?"

उमा की करुणा-पूर्ण बात सुनकर रामस्वरुप को दया आई। उसने कहा—"उमा क्या बात है? तुम्हारी दुःख-पूर्ण बातों से मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है।

उमा ने उजागरसिंह के घर आने की बात से लेकर सारी बातें कह डालीं। बड़ी देर तक ध्यान-पूर्वक सुनकर रामस्वरुप ने कहा—"उजागरसिंह के यह कहने का क्या आशय था कि हमारे होने पर रामलाल की मां से काम है, रामस्वरुप के होने पर किसी से काम नहीं पड़ता।

उमा ने ठंडी साँस भरी और कहा—"मैं क्या बताऊँ ?"

उमा के अधिक कुछ न कहने पर भी उजागरसिंह की बात का व्यंग्य-भाव रामस्वरूप से छिपा न रहा। वह मन-ही-मन सोचने लगा—भगवन् ! क्या इलाहाबाद से एक-दो मास में कहीं एक बार आने पर मेरा यहाँ दो मिनट के लिये आ जाना भी उमा के लिये कलंक की बात है ! क्या संसार की आँखों में पाप और अपवाद के अतिरिक्त कुछ और रह ही नहीं गया ! प्रकाश-रूप से रामस्वरूप ने कहा—"उमा, तुम्हारे कहने से पहले भी मैं अधिकांश बातें गाँव में सुन चुका था। किंतु मेरे ऊपर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैं तो जानता हूँ कि यह सब सहन करने के लिये ही ईश्वर ने तुम्हे उत्पन्न किया है। और मैं क्या कहूँ ! मैं तो तुम्हारे ऊपर बड़ा विश्वास करता हूँ ईश्वर से प्रार्थना है कि वह तुम्हें इस प्रकार के अपवाद सहन करने की शक्ति दे।"

कुछ देर और बातें करने के पश्चात् रामस्वरूप उठकर खड़ा हो गया, और बोला—"उमा, भैया अभी तक नहीं लौटे, अब मैं जाता हूँ, कल फिर किसी समय आऊँगा।

उमा के 'अच्छा' कहने पर रामस्वरूप वहाँ से चला गया।

(४)

दिन-पर-दिन और सप्ताह-पर-सप्ताह बीतने लगे। उजागरसिंह के साथ उमा का अपवाद उत्तरोत्तर गंभीर होता गया। प्रत्येक स्त्री और पुरुष की जिह्वा पर उमा के चरित्र-संबंधी अनेक बातें होती हैं।एक दिन उजागरसिंह बैठे हुए सोच रहे थे कि प्रकार का कलंक लग जाने पर अब वह मिटाए नहीं मिट सकता। उमा अब क्या समझती होगी।अब तो इस कलंक की अपेक्षा यह अच्छा होगा कि इसे स्वीकार कर, वह सत्य बना ले। उसने सोचा कि उमा के पास जाकर कहूँ कि

अब जो कुछ होना था हो गया, अब किस बात का डर रहा! यह सोचकर वे उमा के घर चले। उन्हें मालूम था कि प्रताप इस समय अपने घर पर न होंगे। दरवाज़े पर बिना किसी प्रकार की आवाज़ दिए वे भीतर चले गए, और प्रताप का नाम लेकर उमा से कुछ कहना चाहा। किंतु उन्हें देखकर उमा तुरंत बिना किसी सोच-विचार के, घर से बाहर निकल आई। उजगारसिंह घर के आंगन में बड़ी देर तक खड़े रहे। अंत में, पराए मकान में वे कब तक खड़े रहते, विवश होकर लौट आए। उमा की इस कार्यवाही से उजागरसिंह का क्रोध बढ़ने लगा। उन्होंने मन में निश्चय किया—अगर हम सच्चे उजागरसिंह हैं तो तुझे किसी तरह बाक़ी न रक्खेंगे।

किशनपुर में प्रति दिन एक-न-एक नई बात पैदा होने लगी। उमा के चरित्र-संबंधी एक और नई घटना लोगों के कानों में आने लगी। एक दिन रामलाल की मा से भी, बातों-बातों में, उमा से बहुत लड़ाई हो गई। उस दिन से उसके साथ उमा की बातचीत भी बंद हो गई।

तीन-चार दिन के भीतर ही गाँव-भर में यह बात फैल गई कि उमा के पेट में गर्भ है। यह बात गाँव में हवा के साथ कानों-कानों में पहुँच गई। प्रताप और उमा के कानों में भी इन बातों का पहुँचना शेष न रहा। उमा ये सब बातें सुन-सुनकर सोचने लगी—"मेरा जीवन अब किस प्रकार बीतेगा, और किस प्रकार मैं जीवित रह सकूँगी। इन बातों का क्या फल होगा! ईश्वर क्या दिखाना चाहता है!"

प्रताप का कलेजा पत्थर का हो गया। संसार में उन्हें कोई ऐसा न दिखाई देता, जिसके पास बैठकर वे इस विषय में कुछ बातें करते।

एक दिन उजागरसिंह ने रामलाल की मा को बुलाया, और उससे उमा के विषय में पूँछा। रामलाल की मा ने माथा सिकोड़कर कहा—"तुम्हें तो सब मालूम है, मुझसे क्या पूछते हो?"

उजागरसिंह—"जब चारों ओर ये बातें फैल रही हैं, तो हमसे कहने में क्या हानि है ?"

रामलाल की मा का हृदय अब तो खुल गया। वह हाथ फैला-फैलाकर बातें करने लगी—"भैया, मैं उसके साहस की बात क्या बताऊँ। वह एक दिन मेरे पास आई और मुझसे कहने लगी—चाची, जो कुछ खर्च लगे, मैं लगाऊँगी, लेकिन मुझे इस से बचाओ। मुझे लगा क्रोध; मैंने कहा—क्या मेरे यही काम हैं ? जिसका यह है उससे क्यों नहीं कहती है ? न-जाने किसका पाप लिये फिरती है। मैंने सैकड़ों बातें सुनाईं। इस पर वह वहाँ से चली गई, और अब तो मुझसे बोलती भी नहीं।"

उजागरसिंह ने मुसकिराते हुए कहा—"रामलाल की मा, तो फिर उसका कुछ प्रबंध कराओ।"

रामलाल की मा—"तुम क्यों नहीं करते ? मुझसे कहते हो।"

उजागरसिंह—'हम ही करेंगे, तुम उसे हमारे पास लिवा तो लाओ।'

रामलाल की मा—'अरे बाप रे बाप, अब वह मुझसे बात करेगी ? तुमही जाकर, उसका प्रबंध करो।'

उजागरसिंह को उमा की पुरानी बातों और उसके व्यवहारों का स्मरण हुआ, उन्होंने कहा—"यदि उसका तुमने कुछ प्रबंध न कराया, तो फिर क्या होगा ?"

रामलाल की मा—"मैं क्या प्रबंध कराऊँगी। मैं कौन होती हूँ ? भाई, मुझसे ऐसी बातें न करो।"

उजागरसिंह के पास और आदमियों को आते देखकर रामलाल की मा वहाँ से चली गई।

(५)

धीरे-धीरे दो महीने और बीत गए। रामलाल की मा और उजा-

गरसिंह ने मिलकर उमा के संबंध में किसी प्रकार की कोई कार्यवाही उठा न रक्खी। उन सब बातों का फल यह हुआ कि यह समाचार पुलिस तक पहुँच गया। नित्य थानेदार के आने की बातें होने लगी। कोई कहता, कल आ रहे हैं। कोई कहता, नहीं परसों दोपहर के समय आवेंगे। इन समाचारों को सुन-सुनकर प्रताप दिन-पर-दिन सूखने लगे। कुछ न सूझने पर उन्होंने उमा के पास बैठकर पूछा—'उमा,बेटी, यह सब क्या हो रहा हैं? मेरी कुछ समझ में नहीं आता। क्या यह सब सत्य है?'

उमा इन बातों का क्या उत्तर देती। वह माथा पकड़कर रह गई। प्रताप की बातों का उत्तर न देकर वह चुपचाप बैठ रही। उसकी आँखों से बड़े-बड़े आँसुओं के बूँद गिरकर उसके वक्षस्थल के वस्त्रों को भिगोने लगे।

प्रताप ने फिर पूछा—'उमा, कुछ बोलती क्यों नहीं? तू बिना किसी ख़्याल के मुझ से सच-सच कह दे।'

उमा ने कुछ क्रोध में आकर कहा—'भैया, तुम कैसी बातें करते हो! यदि मैं उजागरसिंह को बिठाती, बुलाती, उससे बातें करती, तो यह कुछ न होता।'

प्रताप ने कहा—'उमा, फिर अब क्या होगा? दारोग़ा साहब आ रहे हैं। सैकड़ों आदमियों के बीच में तुम्हें बुलावेंगे। मैं उस समय कैसे जीवित रह सकूँगा। अब तो मेरा मरना ही अच्छा है।'

उमा के मुख से कुछ न निकला। दूसरे दिन प्रताप उमा की सम्मति से रामस्वरूप के पास गए, और लौट कर उमा से बोले—'रामस्वरूप ने कहा है, तुम किसी का भय मत करो। तुममें पाप नहीं, तुम्हारी ईश्वर रक्षा करेगा। और मैं क्या बताऊँ।'

रामस्वरूप का उत्तर सुनकर उमा का साहस छूट गया। उसके मुख से निकल पड़ा—"विपत्ति में किसी का कोई नहीं होता।"

× × ×

दोपहर ढल चुकी है। एक बड़ी इमली के पेड़ के नीचे दारोग़ा साहब चारपाई पर बैठे हैं। उनके आस-पास कई एक सिपाही बंदूकें लिए घूम रहे हैं। कई एक और चारपाइयाँ भी पड़ी हैं, उन पर गाँव के प्रतिष्ठित सज्जन बैठे हैं। उजागरसिंह ख़ूब हँस-हँसकर दारोग़ा साहब से बातें कर रहे हैं। किशनपुर के सैकड़ों मनुष्य एकत्रित हैं। दारोग़ा साहब की आज्ञा से प्रताप और उमा भी बुला ली गई हैं। प्रताप और उमा दोनों दारोग़ा साहब के निकट बैठे हैं।

कुछ देर से दारोग़ा साहब उमा से बातें कर रहे हैं। वह अपने वस्त्रों में मुँह छिपाकर रो रही है। दारोग़ा की बातों का उसके पास कोई उत्तर नहीं। दारोग़ा साहब ने डाँटकर कहा—"बोलती क्यों नहीं? क्या मामला है?"

उजागरसिंह ने कहा—"साहब, यह इस तरह थोड़े ही बोलेगी।"

अचानक रामस्वरूप साइकिल पर आकर वहीं पर उतर पड़े, और साइकिल खड़ी करके आदमियों की भीड़ को चीरते हुए भीतर पहुँचे। देखा, उमा पत्थर की तरह बैठी दारोग़ा की बातें सुन रही है। उसके मुँह से कुछ भी उत्तर नहीं निकलता है। सारा गाँव तमाशा देख रहा है। उजागरसिंह दारोग़ा की बातों में नमक-मिर्च मिलाकर अपने कलुषित नेत्रों को तृप्त कर रहा है। सदा का शांत रामस्वरूप का हृदय क्रोध से भभक उठा। आवेश में आकर दारोग़ा से अँग्रेजी में प्रश्न किया—"प्रताप की लड़की उमा यहाँ क्यों बुलाई गई है?"

दारोग़ा—"वह चरित्रहीन है, गर्भवती है।"

रामस्वरूप ने ज़ोर से कहा—"मैं पूछता हूँ, क्यों बुलाई गई है ?"

दारोग़ा—"वह गर्भवती है। इस की रिपोर्ट होने पर इन्क्वायरी करने का हमें अधिकार है। क़ानून के अनुसार वह अपराधिनी है।"

रामस्वरूप—"आपने क़ानून की कितनी पुस्तकें पढ़ी हैं, और इस की रिपोर्ट पर इंडियन-ला का कौन-सा ऐक्ट लागू होता है ?"

रामस्वरूप इलाहाबाद युनिवर्सिटी में कानून की ही शिक्षा पा रहे थे। उसकी बातों से घबराकर दारोग़ा साहबसे कुछ कहते-सुनते न बना। वे अंगरेज़ी छोड़ हिंदी में बोले—"आप क्या चाहते हैं ? इस केस से आपसे क्या संबंध है ?"

रामस्वरूप ने अंग्रेज़ी में ही दृढ़तापूर्वक कहा—"मेरा इस केस से क्या संबंध है, यह आपको मालूम हो जायगा।" इसके पश्चात् उन्होंने प्रताप की ओर संकेत कर कहा—"भैया, तुम बड़े बेवक़ूफ़ हो। उमा को लेकर यहाँ क्योंआये थे ? तुरंत उसे यहाँ से ले जाओ।"

रामस्वरूप की बात सुनकर प्रताप के प्राण-हत जीवन में पुनः प्राणों का संचार हुआ। उमा के रोम-रोम में शांति का प्रादुर्भाव हुआ। वह प्रताप के साथ प्रसन्नता से उस भीड़ से निकलकर चली गई। किसी को कुछ कहने का साहस न हुआ।

रामस्वरूप ने फिर कहा—"दारोग़ा साहब, इस पुलीस में रहकर आप कितना पाप कर सकते हैं ? और पाप के बदले में ईश्वर के निकट आप कितने बड़े अपराधी होंगे, आपने यह भी कभी सोचा है ? देखता हूँ, आप एक रईस के छोकरे के हाथ कठपुतली बने, एक भले किसान को बेइज़्ज़त कर रहे हैं !"

दारोग़ा साहब रामस्वरूप की वाक्पटुता और योग्यता देखते हुए, अपने कर्तव्य की ओर से सावधान हो बोले—"सब लोग जाएँ।

मामला ख़ारिज किया जाता है। बाबू उजागरसिंह, आपको अपनी नेक चलनी की बाबत २००) के दो मुचलके देने होंगे। आपने ही इस झूठे मामले को उठाया है, आप ही इसके कारण हैं।"

"सत्य के जय" के घोर रव से किशनपुर गूँज उठा।

अधिकार-पत्र

(१)

जब से श्यामू का जन्म हुआ, मदनमोहन का स्नेह अपने प्रथम पुत्र कौशलकिशोर पर कुछ कम हो गया था। श्यामू और कौशल, दोनों की माताएं सगी बहनें थीं। कौशल की मा के देहावसान के पश्चात्, दूसरे ही वर्ष, श्यामू की मा का विवाह मदनमोहन से हो गया था।

कौशल का जीवन अब उतना सुखकर न रहा, यह जानकर उसके नाना रामविलास ने उसे अपने यहाँ जौनपुर बुला लिया। कौशल अपने नाना के यहाँ पढ़ने लगा। मा की मृत्यु का दुःख उसे उतना नहीं अखरा, जितना प्रायः ऐसी स्थितियों में अखरा करता है। बात यह थी कि उसके मामा के कोई संतान नहीं थी, अतः मामी उससे पुत्रवत् स्नेह करती थीं। इस प्रकार कौशल का विद्यार्थी-जीवन निर्विघ्न चल रहा था।

रामनगर में प्लेग का प्रकोप होने के कारण मदनमोहन के परिवार को भी जौनपुर आना पड़ा। कुछ ही दिनों में श्यामू कौशल से इतना हिल गया कि वह उसके साथ छाया की भाँति रहने लगा। कौशल स्कूल से आता, तो श्यामू 'दादा-दादा' कहते हुये, मां की गोद छोड़कर, कौशल की धोती पकड़ लेता, और उसके पैरों से लिपट जाता। श्यामू को फ़ालसों से बड़ा प्रेम था। कौशल उन दिनों उसके लिये प्रायः नित्य ही फालसे ले आता था। श्यामू की मा को श्यामू और कौशल का स्नेह-संबंध और कौशल का श्यामू पर यह प्रेम-भाव

अच्छा नहीं लगता था। मा के घर में, प्रकट रूप से तो वह कौशल से कुछ कह नहीं सकती थी, पर उस पर और उसके व्यवहारों पर मन-ही-मन बहुत झुँझलाया करती थी।

कौशल अपनी मामी के साथ रहता था। उसे श्यामू के घर जाने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती। श्यामू कौशल के स्कूल से वापस आने की ताक में रहता, और उसके स्कूल से आते ही नौकरानियों के साथ बाहर खेलने के बहाने 'कौशल दादा' के पैरों से लिपटने को आतुर हो उठता।

एक बार कौशल बीमार पड़ा। तीन दिन तक तनिक भी ज्वर न उतरा। ज्वर की दशा में कौशल ने श्यामू का अनेक बार स्मरण किया, पर श्यामू उसके पास नहीं आया?—इसका उसको कुछ पता-ही न चला। उसकी शंकाओं का समाधान नहीं हुआ। कभी मालूम हुआ, वह सो रहा है, और कभी मालूम हुआ कि कहीं खेलने गया है।

(२)

"अम्मा तुम तो कैती थीं कौछल दादा आज नहीं कल जलूल आएगा, तप आज भी तो वह नईं आया!"

"हाँ भैया, वह नहीं आया उसे ज्वर आता है। उतरा न होगा।"

"तो तलो अम्मा, अमको दादा के पाछ ले तलो। मामी कैती थीं कि दादा ने अमें बुलाया है, पर तुमने अमको दादा के पाछ भेजा नहीं। तलो अम्मा, अबकी दादा के यहाँ ले तलो। कुछ दिन छे दादा भी नहीं आया, और तुमने भी अमको उछके पाछ नहीं भेजा!"

"ना भैया, मैं उसे देख आई हूँ। उसके ज्वर है। तू उनके पास जायगा, तो तुझे भी कहीं ज्वर न आ जाय, इस डर से मैं तुझे उसके पास नहीं भेजूँगी।"

"अम उछके पाछ जायँगे, तो अमें जुल आ जायगा? झूठ है! वह तो दादा है। उछके पाछ जाने छे अमें जुल नहीं आ छकता। तुम यह जूठ कैती हो। अम नईं मानेंगे। अम तो उछके पाछ मेरी मा के छाथ अभी जाते हैं।" बालक श्यामू ये बातें कहता हुआ चल दिया। मा ने मना किया, तो रोने लगा, अंत में मा को राज़ी होना पड़ा। उसने उसे महरी के साथ शीघ्र लौट आने की शर्त पर भेज दिया।

कौशल ने श्यामू को आज चौथे दिन देखा था। वह उसके पास अभी तक क्यों नहीं आया था, इसका कारण उसे ज्ञात हो चुका था। श्यामू को दूर से देखा, तो उसके नेत्रों में आँसू छलछला आए। मा के मन की दुर्भावना निराधार न भी हो, तो भी उसके ओछे विचारों ने उसकी आत्मा को सजग बना दिया। इस समय कौशल का ज्वर उतर चुका था। उसने श्यामू के हृदय से लगाकर उसका मुख चूमा, और उसे गोद में बिठा लिया। उसे इस समय अपार सुख का अनुभव हुआ। उसने फिर उसका मुख चूमकर पूछा—हमने तुम्हारे लिये नुकती और फालसे मँगाए थे, और तुम्हें बुलाया था। पर शायद तुम्हें अम्मा ने नहीं आने दिया! क्यों?

"हाँ तुम तो छब छमझते हो। अम्मा कैती थीं कि दादा के पाछ जायगा, तो जुल आ जायगा, जुल।"

"अम्मा पगली है। क्यों? है न?"

'हाँ' बहुत बुली हैं। तुमाले पाछ आने जो नहीं देती है, इछी छे बुली हैं। लोज अम तुमाले पाछ आने को लोते थे—मतलते थे, पल महली भी अमें नहीं लाती थी। अम्मा उछे भी छिखा देती थीं।"

इधर ये बातें हो रही थीं, उधर मदनमोहन ओट में खड़े ये सब बातें सुन रहे थे। कौशल ने इसके बाद उसे एक कुर्सी पर जो निकट ही पड़ी हुई थी, बिठा दिया और फालसे और नुकती लाने के लिये एक

नौकर को भेज दिया। मदनमोहन चुपचाप चले आये। शिष्टाचार के नाते उन्होंने कौशल से उसके ज्वर का हाल पूछा। तदनंतर वे श्यामू को उसकी इच्छा के बिना, गोद में उठाकर, चल दिए। उधर श्यामू मदनमोहन की गोद में रोता-मचलता हुआ जा रहा था, इधर कौशल की आँखों से आँसुओं के बूंद टपक रहे थे!

संसार में प्रायः जो घटनाएँ हुआ करती हैं, उनके मूल में क्या होता है, इसका बहुतों को कुछ विचार नहीं होता। मानव-स्वभाव ही प्रायः सृष्टि और प्रकृति से लड़ा करता है। कौशल की तबीयत अच्छी होने लगी, परंतु श्यमू को उसी दिन से ज्वर आने लगा। कौशल समझता है कि उसे ज्वर आ जाने का कारण मदनमोहन का उसके दिल पर चोट पहुँचाना है। श्यामू की मा का विश्वास कुछ और है। वह समझती है कि कौशल के पास जाने से ही उसे ज्वर आया है। जो हो, श्यामू को पहले दिन ज्वर आया, और दूसरे दिन शीतला निकल आई। कौशल इस बात से परिचित होते हुए भी कि इस दशा में मेरा आना-जाना मा को अखरता है, श्यामू की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर, उसे नित्य एक बार देख आता है। यही नहीं, वह नित्य सबेरे उठकर और सोते समय ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसे शीघ्र चंगा कर दे।

चार-छः दिनों में श्यामू अच्छा हो गया। मदनमोहन सपरिवार रामनगर चले आए। वहाँ अब प्लेग शांत था।

(३)

दस वर्ष बाद। अब डा० कौशलकिशोर एक कालेज के प्रिंसिपल हैं। उनकी मासिक आय १२००) है। उनके माता और पिता अब इस संसार में नहीं हैं। श्यामू रामनगर में १० वीं कक्षा में पढ़ता है। बाबू मदनमोहन जो जायदाद छोड़ गए हैं, उसके बँटवारे का प्रश्न इन दिनों श्यामू की मा के सामने है। कौशल अपने पिता की जायदाद में

न्यायतः आधे के अधिकारी हैं, श्यामू की मा को जब इस बात का ध्यान हो आता है, उसका खून खौलने लगता है। जिन दिनों बाबू कौशलकिशोर इँगलैंड गए हुए थे, उन दिनों उनकी पत्नी कुछ दिनों तक श्यामू की मा के पास रही थी। श्यामू की मा ने एक दिन अपनी बहू को भोजन में विष खिलाकर उसे सदा के लिये सुला देने की भी चेष्टा की थी, पर श्यामू को किसी तरह यह बात मालूम हो हो गई, और उसने अपनी भावज से कह दिया। तब से वह अपने पिता के यहाँ चली आई। आज कल वह कौशल बाबू के साथ है। इस समय श्यामू के ८–१० वर्ष की दो बहनें भी हैं।

कौशल को संध्या का भोजन खिला चुकने के पश्चात् उनकी पत्नी ने कहा–"श्यामू का एक पत्र आया है। टेबल पर रक्खा है। देखा है?"

"नहीं तो। उसमें क्या लिखा है उसने?"

"क्या लिखा है, यह तो तुम उसे पढ़कर ही भली भाँति जान सकोगे; पर मैं इतना बताए देती हूँ कि वह अपनी मा के व्यवहारों से बहुत नफ़रत रखता है। वह तुम्हें बहुत चाहता है। इसी बंधु-प्रेम के कारण वह अपनी मा का साथ छोड़कर पढ़ने के लिये यहाँ आ जाना चाहता है।"

"यह कैसे हो सकता है? फिर रामनगर में कौन रहेगा? घर का प्रबंध कौन करेगा?"

"इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि उसकी नानी ने उसे अपनी जायदाद का जो भाग देने का निश्चय किया है, उसे भी वह तुम्हारे ही नाम लिखाएगा, उसका एकाधिकारी तुम्हीं को बनाएगा।"

"अच्छा, इसके उत्तर में मैं स्वयं उसे पत्र लिख दूंगा। तुम अभी एक पत्र, मेरी ओर से, अम्माजी को इस भाँति लिख दो। मैं हस्ताक्षर कर दूँगा। लिखो—

पुनर्विवाह

(१)

इलाहाबाद
३ । ४ । २४

प्रिय कमले,

मैंने बहुत चाहा कि किसी प्रकार मैं तुम्हारे आग्रह के अनुसार दूसरा विवाह कर लूँ, पर मुरलीमनोहर के कथनानुसार मैं अब भी अपने उसी पूर्व-निश्चय पर दृढ़ हूँ, जिसे मैंने उस दिन मा के सामने तुम्हें स्पष्ट रूप से बता दिया था। हम लोगों में जो कमी है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ। तुम्हारे हृदय में जो आकांक्षाएँ उठा करती हैं, और जो तुम्हारे हृदय को दिन रात मथा करती हैं, मैं उन तक पहुँचता हूँ। पुत्र के बिना जीवन का सुख अधूरा है, यह ठीक है। पर जरा सोचो तो कि इस विषय में हम लोगों का क्या वश है! तुमने लिखा है कि मैं यह मानने के लिये कदापि तैयार नहीं हूँ कि दूसरा विवाह होने पर भी मैं पुत्र-सुख से वंचित रहूँगी। तुम्हारा यह लिखना भी एक प्रकार से ठीक हो सकता है। पर मैं एक बात अवश्य कहूँगा और वह यह कि हम लोग जो कुछ करते हैं, जैसे रहते हैं, , जिस प्रकार की भावनाएँ हृदय में रखते हैं, ईश्वर उनसे पूर्ण परिचित है। तुम जो करने जा रही हो, तुम जो प्रस्ताव इस समय उपस्थित कर रही हो, उसका भी उसे पता है। इस समय सृष्टि जैसी चल रही है, तुम्हारे प्रस्ताव के अनुसार, तुम्हारी दूसरी सखी के आ जाने पर भी वह वैसी ही चलेगी। परंतु यदि यह मान लिया जाय कि उस दशा में कुछ अंतर आ जायगा तो भी सृष्टि की इस रचना और उस रचना में कोई उल्लेखनीय और महत्व-पूर्ण

परिवर्तन अवश्य ही होगा, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी संभव है कि तुम्हारे हृदय में जो भाव इस समय हैं, किसी समय वे न रहें; अथवा मेरे जो भाव अभी तुमको बहुत प्रिय प्रतीत होते हैं उस समय उनमें कुछ अंतर आ जाय। मुरलीधर के परिवार से तुम अच्छी तरह परिचित हो। आज कल होता यह है कि कभी सरला उपवास करती है, और कभी विमला। विमला चाहती है कि मुरलीधर कभी सरला के सामने भी न जायँ। सरला यहाँ तक राजी है कि मुरलीधर एक बार—केवल एक बार—मुझे दर्शन दे जाया करें। बस, मैं इसी से संतुष्ट रहूँगी। मुरलीधर की दशा कुछ विचित्र है। वह विमला पर मरते हैं, पर उनका हृदय इतना अनुदार होना नहीं चाहता कि वह सरला को भूल जायँ। तुमने लिखा है कि "दूसरे के बच्चे को देखकर जी में आता है कि उसे उठाकर उसका मुख चूम लूँ—उसे छाती से चिपका लूँ। पर ज्यों ही यह सोचती हूँ कि वह मेरा नहीं है, और उसे इस तरह प्यार करने का मुझे कुछ भी अधिकार नहीं है, दिल मसोसकर रह जाती हूँ।" तुम्हारा यह लिखना बिलकुल ठीक है—स्वाभाविक है। पर मैं कहूँगा कि जब तक ईश्वर की इच्छा न होगी, यह सब कुछ न होगा—ज़रा भी न होगा। उस पर विश्वास करो। वह ऐसा कृपालु है, ऐसा दयामय है कि एक-न-एक दिन सबकी सुनता है। तुम्हारी भी सुनेगा, अवश्य सुनेगा। सारांश यह कि मेरे जी में तुम्हारा यह प्रस्ताव काँटे की तरह खटकता है। संभव है, तुम्हें उस जीवन के किसी भाग-विशेष पर—किसी परिस्थिति-विशेष पर—संतोष भी हो जाय; पर यह भी जान लो कि मैं उस दशा में इस संसार में न रहूँगा, जब मुरलीधर की-सी नौबत आने का अवसर आ जायगा। हम दो हैं, तीन ईश्वर के बनाए से ही बनेंगे। कृत्रिम साधनों से तीन बनने में बहुत संभव है, हम दोनों में से किसी एक का जीवन ही कृत्रिम हो जाय। यह धमकी नहीं है। तुम इसे धमकी समझोगी, तो मुझे समझने में

ग़लती करोगी। मा की तबियत अब अच्छी है तुम्हारी याद किया करती हैं। अगर आने में कुछ कष्ट न हो, तो लिखो; मैं लिवा लाऊँ।

तुम्हारा—
जीवनलाल

(२)

आगरा
१० । ४ । २४

प्रिय प्राणाधार,

पत्र मिला। तुम्हारे हृदय पर मेरी बातों का उलटा प्रभाव पड़ा है। मैं कुछ और सोचती हूँ; तुम कुछ और! तुम लिखते हो कि इससे जीवन किरकिरा हो जायगा। मैं सोचती हूँ, पत्नी को इस बात का क्या अधिकार है कि वह पति के सुख को अपना सुख न मानकर उसकी इच्छाओं के मार्ग में काँटे बिखेरे। वह तो पति की सेविका है। बहन आयँगी, और यदि वह चाहेंगी कि तुम मुझसे दूर-दूर रहो और उन्हीं की आँखों के तारे बने रहो, तो यह उनकी कौन बड़ी बात है? क्या यह भी संभव है कि उस दशा में तुम कोठरी और कमरे के भीतर दिन-रात बंद रहा करोगे?—एक क्षण के लिये भी बाहर न निकलोगे? क्या तुम्हें बाहर निकलते, प्रसन्न-मुख मित्रों के साथ वार्तालाप करते, सड़क पर घूमते हुए भी मैं नहीं देख सकूँगी? क्या मेरे इस अधिकार को भी कोई मुझसे छीन सकेगा? मुझे इतने में ही संतोष होगा। बच्चा होगा, उसे घर की महरी और पड़ोस की स्त्रियाँ तक खिलाएँगी। क्या मैं इतना सुख भी न उठा सकूँगी? झूठ है, सब झूठ है। किसी नारी का हृदय इतना कठोर नहीं हो सकता कि वह मुझे इस सुख से वंचित कर सके!

तुमने लिखा है कि "संभव है, मेरा (आपका) भाव तुम्हारे लिये (मेरे लिये) बदल जाय।" तुम यह कैसी बात लिख रहे हो? क्या यह कभी संभव हो सकता है? यदि मेरा भाग्य फूट भी जाय,

तुम बहन के ही होकर रहो, तो भी, मैं कहती हूँ, उस दशा में भी मुझे आपत्ति न होगी ।

रही ईश्वर पर विश्वास करने की बात । सो उस पर विश्वास करके ही तो मैं यह प्रस्ताव कर रही हूँ । तुम लिख रहे हो, "यदि उस दशा में भी तुम्हारी (हमारी) इच्छा पूरी न हो तो ?" मैं कहती हूँ, यदि ईश्वर के इसी प्रस्ताव के द्वारा मेरी इच्छा की पूर्ति करनी हो तो ?

तुम मुरलीधर का उदाहरण सामने रखकर मुझे भयभीत कर रहे हो । परंतु मेरी आँखों के सामने पड़ोस के राधामोहन का आदर्श हर समय मौजूद रहता रहता है । उनके दो पत्नियाँ हैं । पहली स्त्री का परिवार में वही स्थान है, जो मा का होता है । दूसरी स्त्री बहू के समान रहती है । बड़ी छोटी को बहुत चाहती है । वैसा ही प्यार करती है, जैसा मा अपनी बेटी का किया करती है । छोटी को बड़ी की शरण में बड़ा सुख मिलता है । छोटी के ३ वर्ष का लड़का है । वह यह भी नहीं जानता कि मेरी सगी मा कौन है । दूध पीने-भर को वह छोटी की गोद में जाता है, और दिन-रात बड़ी की गोद में खेला करता है । छोटी के हृदय में कभी यह भाव नहीं आता कि बड़ी हमारी सौत है । बड़ी छोटी के बच्चे को अपना बच्चा समझती है । सच मानो, इस घर में ऐसी शांति विराजती है जिसे देखकर आँखों को अपार सुख का अनुभव होता है ।

मा की तबियत का हाल सुनकर मैंने आने का विचार किया था; पर अब जब उनकी तबियत अच्छा हो गई है, कुछ दिन और ठहर जाओ । भैया का द्विरागमन होने को है । भावज आ जायँ; उन्हें दो-चार दिन इस घर के विशाल आँगन में छम-छम करती हुई देख लूँ—भैया से उनकी रात में क्या-क्या सुखभरी रस-भरी बातें होती हैं, यह सुन

लूं, तो आऊं। आशा है, तुम एक मास के लिये अवश्य ही ठहर जाओगे।

तुम्हारी—
कमला

(३)

कानपुर
२०। ४। २४

प्रिय जीवन बाबू,

कृपापत्र मिला। मैं इस विषय में जितनी ही गंभीरता से विचार करता हूँ; मुझे इस निश्चय पर पहुँचकर उतनी ही प्रसन्नता होती है कि संतान के लिये तुम दूसरा विवाह करने जा रहे हो। तुम लिखते हो कि "भारत की इस गिरी हुई अवस्था में इस बात की उतनी आवश्यकता नहीं है कि संतान-वृद्धि के लिये पुरुष दूसरा विवाह अवश्य करे। जिस देश में विधवाओं का आर्त-नाद इतना बढ़ा हुआ हो, जिस देश के लाखों बच्चे मुट्ठी-भर अन्न के लिये तरसते हों, और जिस देश की इतना समाजिक अधोगति हो चुकी हो कि वह समाज-गत रूढ़ियों के आधार पर स्वतः अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहा हो, उस देश के लिये यह आवश्यक है कि वह संतान-वृद्धि पर एक कठोर प्रतिबंध लगा दे। वह प्रतिबंध यही हो सकता है कि पुरुष अपना दूसरा विवाह करना त्याग दें।" तुम्हारे इस कथन से देश के प्रति जो अनुराग लक्षित होता है, मैं उसका आदर करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह विचार यदि व्यावहारिक हो सके, तो इस समय वह देश के लिये कल्याणकर सिद्ध हो सकेगा। पर इतना स्वीकार करने पर भी मुझे यह लिखते हुए खेद होता है कि मैं इसे कोरा आदर्श-वाद समझता हूँ।

पुरुष वासनाओं का क्रीत-दास है। तुम कम-से-कम मुझ पर इतना तो अवश्य विश्वास करोगे कि मैं जो कुछ लिखूँगा, उसमें मिथ्या-वाद की झलक न होगी। तुम मुझे प्रायः चरित्रवान् कहा करते हो। पर मैं यदि सच्ची बात कहूँ, तो शायद तुम मुझसे घृणा करने लगोगे। परसों गंगाजी पर सोमवती अमावस होने के कारण बड़ी भीड़ थी। सरसैयाघाट पर स्नान करने के लिये मैं भी गया था। अकस्मात् मेरी दृष्टि एक ऐसी मूर्ति पर पड़ गई कि मैं अभी तक उसी का सपना-सा देख रहा हूँ। कलेजे पर साँप लोट गया! बहुत जी कड़ा किया, पर इच्छा न मानी। दो-तीन मिनट तक उसी की ओर टकटक देखता रहा। तदनंतर जब वह स्वतः आँख से ओझल हो गई, तब विवश होकर, दूसरी ओर घूमकर निकल जाना पड़ा। जिस नारी की मंजु-मूर्ति के दर्शन में इतना आकर्षण है कि मैं अपने आपको भूल जाता हूँ—मेरी क्या हस्ती है, बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि तक भूल गए हैं, उस नारी की क्या उपेक्षा की जा सकती है? क्या ऐसा करना कभी संभव हो सकता है? पुरुष दूसरा विवाह न करे, आखिर कब तक न करे? दूसरा विवाह न करके भी पुरुष बिना स्त्री के जीवन व्यतीत करे। जाति की सेवा करे, राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करे—उसी की सेवा में अपने जीवन को उत्सर्ग करे। निस्संदेह यह आदर्श अच्छा है। पर मैं कहूँगा, यह कितने दिन तक के लिये संभव हो सकेगा? देखते तो हो वही प्यारेमोहन, जिसने अपनी स्त्री की पवित्र स्मृति में 'वीणा'-नाम की पत्रिका निकाली, जो उसकी स्मृति में बरसों रोया, भावावेश में आकर, इसी आदर्शवाद के चक्कर में पड़कर, जो वियोगी हो गया, और हम लोगों पर जिसके चरित्र का सिक्का रहा, अब कैसा रसिक हो गया है! इसीलिये कहता हूँ, कि पुरुष वासनाओं का क्रीत-दास है। कब, किस स्थिति में, वह कैसा हो जायगा, इसका कुछ निश्चय नहीं। पूर्वजों ने विवाह का बंधन लगा-

कर समाज को कितना सुदृढ़ कर दिया है! पाश्चात्य जगत् चाहे कितनी ही उन्नति क्यों न कर ले, पर वह हमारे देश के चरित्र की उस पवित्रता तक कभी नहीं पहुँच सकता, जहाँ सामाजिक बंधनों के अनुसार चलते हुए हम प्रायः पहुँच जाते हैं।

यह माना कि तुम्हारी स्थिति इससे कुछ भिन्न है। पर जिस बात के लिये तुम दूसरा विवाह करोगे, वह बात भी तो महत्त्व की है। मैं संतान-वृद्धि का पक्षपाती नहीं हूँ, पर मैं साफ़ कहे देता हूँ कि मैं उसको कृत्रिम साधनों द्वारा रोकने का तो घोर विरोधी हूँ। और संतानोत्पादन की आवश्यकता होने पर भी उसकी उपेक्षा करना, तो मैं धर्म-संगत तक नहीं मानता। तुम पुत्र के विना संतोष कर सकते हो; पर कमला और तुम्हारी मा को तो इससे संतोष नहीं है! मुझे भी तो नहीं है! यदि यह भी मान लिया जाय कि श्राद्ध-तर्पण से पितरों को मुक्ति नहीं मिलती, तो भी क्या तुम माता-पिता के वृद्ध जीवन को सुखी बनाने के लिये संतानोत्पादन की आवश्यकता नहीं समझते? जब यह प्रमाणित हो चुका है कि तुम दोनों को कोई विशेष रोग नहीं है, दोनो स्वस्थ हो, और फिर भी संतान नहीं होती, तो इस बात पर तुम्हें विश्वास क्यों नहीं होता कि दूसरे विवाह से संतान अवश्य होगी? पागलपन की-सी बातें करते हो!

सुनो, तुम्हें एक खुशख़बरी सुनाता हूँ। हमारे पड़ोस में किशोरी-लाल शर्मा-नामक एक धनी-मानी प्रतिष्ठित सज्जन हैं। उनके एक कन्या है। वह १६ वर्ष की हो चुकी है। वह पढ़ी-लिखी, गृह-कार्य में कुशल और सुंदरी है। मैंने उसे देखा है। अपनी मा के साथ वह अनेक बार मेरे घर आई है। परसाल से उनके विवाह की बातचीत एक ग्रेजुएट के साथ हो रही है। किशोरी बाबू ने उस वर के लिये ५०००) दहेज़ देना भी स्वीकार कर लिया था, पर अब इस वर्ष वह इस संबंध से

संतुष्ट नहीं हैं। कमी यह है कि ग्रेजुएट महोदय के पिता प्राचीन रूढ़ियों के हिमायती हैं। उनकी वृद्धा पत्नी देवी बड़ी तेज़-तर्रार किंतु अनपढ़ हैं। अगर कहो, तो तुम्हारे लिये ढिप्पस लड़ाऊँ। न हो, किसी दिन यहाँ चले आओ। किसी बहाने तुम्हें उस लड़की को दिखा दूँगा। मुझे वह चाचा कहती है। इस बात से तुम्हें इस प्रस्ताव में कुछ संकोच नहीं होना चाहिए। इस पत्र का उत्तर शीघ्र देना। यदि तुम्हारा ब्याह इस लड़की के साथ हो जाय, तो मुझे बड़ी ख़ुशी होगी। किशोरी बाबू बड़े भलेमानस और बड़े आदमी हैं। लड़की भी शरद् का चंद्रमा है। नाम भी उसका चमेली है। कुछ समझे ?

तुम्हारा—
ललताप्रसाद

(४)

इलाहाबाद
१।५।२४

प्रिय ललता बाबू

यह पत्र बड़ी शीघ्रता में लिख रहा हूँ। तुम्हारा पत्र ठीक समय पर मिला था। बहुत कुछ सोच-विचारकर यह पत्र, आज कई दिन के बाद, लिख रहा हूँ। परंतु उत्तर शीघ्र पाने लिये तुम उतवाले हो रहे होगे, इसलिये एक प्रकार से यह पत्र, अपने हिसाब से, मैं कुछ जल्दी ही लिख रहा हूँ। अन्यथा अभी कुछ दिन और लगते।

तुमने अपने पत्र में जो प्रस्ताव किया है, वह मेरे सिद्धांतों से मिलता भले ही न हो, पर मैं इस बात को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता कि वह विचारणीय अवश्य है। जिन बातों में मैं तुमसे मतभेद रखता हूँ, उनका उत्तर मैं फिर कभी दूँगा। इस समय मैं तुम्हारे इस प्रस्ताव पर एक प्रकार से अर्ध स्वीकृति देता हूँ। शेष

अर्ध-स्वीकृति आगरे से लौटकर दूँगा । आज ही रात की ट्रेन से जा रहा हूँ । ८-१० दिन के बाद लौटूँगा ।

प्यारेमोहन के विषय में तुमने बहुत संक्षेप में लिखा है । वह मौजी हो गया है, इससे तो मैं उसके विषय में कुछ विशेष नहीं जान सका । उसका भी एक पत्र मेरे पास आया है । उसने भी तुम्हारी बात का ही समर्थन किया है । परंतु मेरे कई स्थानीय मित्र तुम्हारे इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं । मैं उनके प्रभाव से प्रभावित अवश्य हूँ पर मानव-प्रकृति की जिस कमज़ोरी की चर्चा तुमने अपने पत्र में की है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ । जो दोष तुमने अपने ऊपर लिया है, लगभग उसी प्रकार के अनेक दोष मुझमें भी हैं । मैं उन्हें अपने संस्कारों का प्रति-फल समझते हुए भी उनमें ऐसा जकड़ा हूँ कि अपने आपको उनसे सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता ।

बस । किशोरी बाबू से तुम बातचीत करो । अपने आने की कोई आवश्यकता तो मैं नहीं समझता ।

तुम्हारा—
जीवनलाल

(५)

७ । ५ । २४

प्रिय जीवन बाबू,

मैंने सुना है कि तुम दूसरा विवाह करने जा रहे हो । और ऐसा करने के लिये जिस बात ने तुम्हें उद्यत किया है, वह है पुत्र-प्राप्ति की कामना । मैं तुमको बहुत ही आदर की दृष्टि से देखता हूँ । मित्रों में जब कभी चरित्रशीलता की बातचीत चलती है, तब मैं प्रायः तुम्हारा ही नाम ले-लेकर उनके समक्ष एक आदर्श उपस्थित कर देता हूँ । मुझे

अब यह जानकर दुःख है कि तुम्हारे प्रति चिर-संचित आदर- भाव को एक गहरी ठेस लगने जा रही है।

इस विषय को तुम किस रूप में देखते हो ? यह घोर घन-गर्जन, जन-समुदाय का यह अशांति-पूर्ण कोलाहल, विज्ञान के नवीन आविष्कार और विश्व की नाट्यशाला के उस नटवर की लीला के विविध प्रकार के खेल क्या तुम्हारी मोह–निद्रा को भंग नहीं कर सके ? देखते तो हो, वह जो चाहता है करता है। उसकी कृतियों को कोई अनहोनी कहकर कोस भले ही ले, पर वे सार-हीन, तथ्य-हीन, और सर्वथा अन्याय नहीं हैं। उदाहरण चाहते हो, तो सुनो—

''मेरे पड़ोस में एक डिप्टी साहब रहते हैं। वे अब बिलकुल वृद्ध हैं। वे रिटायर्ड डिप्टी कलेक्टर हैं। उनके ३ लड़के थे—एक-से-एक होनहार, शिक्षित और योग्य। डिप्टी साहब के इस परिवार की सुख-शांति नगर में आदर्शवत् थी। केवल तीन वर्ष की बात है, तीनों को उसने उठा लिया ! तीनों विधवाएँ बैठी हुई दिन-रात रोया करती थीं इस मास अकस्मात् उनमें से और दो चल बसीं।''

''मेरे एक मित्र कमलाकिशोर हैं। इस समय उनकी अवस्था ४२ वर्ष की है। इनका विवाह १४ वर्ष की आयु में हुआ था। १८ वर्ष की आयु में एक लड़की होकर मर गई थी। बीच में कोई संतान न हुई ! इसी वर्ष उन्हें पुत्र-प्राप्ति हुई है।''

तुम्हें मालूम न होगा कि मेरे श्वसुर ने भी दो विवाह किए थे। दूसरी पत्नी के कोई संतान नहीं हुई। उनके आने के पश्चात् पहली पत्नी से ही एक लड़की और एक लड़का हुआ। दूसरी पत्नी अभी तक बनी हैं, पर उनका जीवन कैसा बीतता है, यह जानने के लिये इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वे अब सूखकर काँटा हो गई हैं।

यह हाल उनका आज दो-तीन वर्ष से है। अब तो उन्हें मरणासन्न ही समझिए। जिस दिन चल बसीं, उसी दिन 'राम राम सत्य'!

किस भ्रम में पड़े हो? क्या करने जा रहे हो? कुछ तो सोचो, कुछ तो समझो! वह विश्वनियंता है। वह सब कुछ करता है। जो सोचते हो, संभव है, वह उसे मृग-तृष्णा बना दे—जो करने जा रहे हो, संभव है वह उसमें ऐसी अशांति का बीजारोपण कर दे, जिसे तुमने कभी सोचा तक न हो।

मैं तुम्हारा एक पुराना मित्र हूँ। मेरी बात पर विचार करके उसके अनुसार आचरण करने-न-करने का तुम्हें अधिकार है। मुझे जो कुछ लिखना था, वह लिख चुका।

अंत में फिर सचेत करता हूँ, कमला के रहते हुए दूसरा विवाह न करना।

तुम्हारा—
एक पुराना मित्र

(६)

आगरा
१२।५।२४

प्रिय प्राणाधार,

जब से तुम यहाँ से गए हो, मुझे चैन नहीं है। अम्मा ने मुझे नहीं भेजा। क्या करूँ, विवश हूँ। उधर तुम्हें भी कष्ट होता होगा, और साथ ही मा को भी। ४-६ दिन से मेरा जी कुछ ख़राब रहने लगा है। हल्का ज्वर-सा मालूम होता है। कभी-कभी पेट में कुछ मीठा-मीठा दर्द भी होता है। वैद्यराज की दवा खा रही हूँ। तुम कुछ चिंता न करना। अम्मा को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना।

तुम्हारे किसी पुराने मित्र की एक चिट्ठी इलाहाबाद से लौटी हुई मुझे परसों मिली। मैंने उसे पढ़ लिया है। उसे इसी चिट्ठी के साथ भेज रही हूँ। तुम्हारे ये मित्र कौन हैं, क्या करते हैं, और कहाँ रहते हैं? कहीं उनके प्रभाव में न आ जाना। बस। भाई आनेवाले हैं। इसलिये इस चिट्ठी को यहीं समाप्त करती हूँ।

तुम्हारी—
कमला

(७)

इलाहाबाद
२५। ५। २४

प्रिय ललिता बाबू,

मैं तुम्हारे प्रभाव में आकर कहाँ जा रहा हूँ, मुझे इसका कुछ पता नहीं है। तुम मुझे कहाँ ले जाओगे, मैं अंत में कहाँ पहुँचूँगा, मुझे इस विषय का भी कुछ ज्ञान नहीं है। इतना समझ लो कि यदि तुमने मुझे धक्का दिया, तो मुझे गहरे गर्त में पाओगे।

किसी मित्र ने गुमनाम से एक पत्र भेजा है। कमला के पास से यहाँ आया है। यहीं से लौटकर वह गया था। मेरे यहाँ आ जाने पर वहाँ वह उसके हाथ पड़ गया। उसमें विवाह का घोर विरोध किया गया है। मै उसे पढ़कर विचलित हो उठा हूँ। परंतु एक बार तुम्हारे प्रस्ताव पर स्वीकृति दे चुका हूँ। तुमने किशोरी बाबू को ठीक भी कर लिया है। अब इस दशा में मैं 'किंकर्तव्य-विमूढ़' हो गया हूँ। अगर यह चिट्ठी पहले आ जाती, तो मैं स्वीकृति देता, इस पर विश्वास नहीं होता। लिखते हुए खेद होता है, यदि किसी प्रकार तुम किशोरी बाबू को मेरे प्रतिकूल बना सको, तो जी को संतोष और शांति मिल सकती है।

जब से यह पत्र मिला है, तब से अनिष्ट की आशंका से मेरा जी घबरा रहा है। तुम थोड़े दिन के लिये यदि यहाँ आ सको, तो अच्छा हो। ३-६-२४ को तिलक होगा, तुम यह लिख ही चुके हो। क्या यह मुहूर्त टाल नहीं सकते हो?

आशा है, मेरी इन पंक्तियों से तुम मेरे हृदय की स्थिति का पर्याप्त परिचय पा लोगे।

कमला को भी तिलक के कुछ दिन पूर्व बुलाना होगा। पर मैं यह क्या लिख रहा हूँ। किसी तरह तुम मुझे इस जाल में पड़ने से बचा सको, तो मै तुम्हारा बड़ा आभारी हूँगा।

तुम्हारा—
जीवनलाल

(८)

इलाहाबाद
१२।६।२४

प्रिय भाभी,

तुम्हारा पत्र मिला। ३।६।२४ को यहाँ उनका तिलक चढ़ गया। हृदय की ज्वाला को दबाए हुए हूँ, और तबतक दबाए रहूँगी जब तक अंधी को आँखें नहीं मिल जातीं। क्या परिणाम होगा, इससे पूर्णतया परिचित हूँ, परंतु अब जो कुछ हो रहा है, उसे होना चाहिए। वह होकर ही रहेगा। तुमने या किसी और ने यदि कभी कोई और सूचना उन्हें दी, तो मैं मर जाऊँगी। बस, इतना समझ लो।

आजकल सब के दिन आनंद से कट रहे हैं। अब वह बात नहीं है। होनी भी न चाहिए। सुना है इस सहालग में यह विवाह न होगा यह भी एक तरह से अच्छा ही हुआ। यहाँ अब अधिक दिनों तक न

रहूँगी। २-४ दिन में भैया को भेज देना। भला, भूलना नहीं। बस, आशीर्वाद।

तुम्हारी—
कमला

(६)

इलाहाबाद
१३। ६। २४

प्रिय ललिता बाबू,

आजकल कमला यहाँ नहीं है, यह तो तुम्हें मालूम ही होगा। तिलक होने के बाद थोड़े दिन रही थी, और फिर चली गई। उसका जी आजकल अच्छा नहीं रहता। प्रायः ज्वर रहता है। कई मास से यही हाल है। कभी-कभी जी में आता है, ऐसा न हो कि चल बसे। भगवान् न करे ऐसा हो। परंतु यदि ऐसा हो जाय तो तुम इसे कैसा समझोगे?

किशोरी बाबू विवाह की तैयारियाँ कर रहे हैं। अच्छा है। तुम भी दिसंबर में यहाँ आ जाना। सब तुम्हीं को करना पड़ेगा।

और कोई नई बात नहीं है। कोई विशेष बात हो, तो, लिखा करो। उसे देखने के लिये अब मैं दो-एक दिन के लिये आना चाहता हूँ। बुरा न मानना, मैं तुम पर यद्यपि पूर्ण विश्वास करता हूँ, तथापि हृदय के संतोष के लिये ऐसा लिख रहा हूँ। चिट्ठियाँ शीघ्रता-पूर्वक लिखा करो।

तुम्हारा—
जीवनलाल

(१०)

कानपुर
२८ । १२ । २४

प्रिय जीवन बाबू,

परसों तुम्हारा एक तार और कल एक लंबी चिट्ठी मिली । बधाई ! भगवान् करें, तुम्हारा यह नवजात पुत्र हज़ार वर्ष का हो ।

मुझे आशा है, तुम अब बहुत सुखी होगे । विवाह के विषय में इतनी बातें हो जाने, विवाह के निमंत्रण-पत्र छप जाने आदि के पश्चात् यह संवाद ज्ञात हुआ है, तुमने इस पर खेद प्रकट किया है । परंतु इस विषय में यही तो विशेष रूप से हर्ष की बात है । किशोरी बाबू से मैं क्या कहूँगा, इसकी चिंता न करो । उन दिनों तिलक के बाद भी उस सहालग में विवाह न करने की जो टाल-मटोल हुई, उसका भी कारण यही था । विश्वस्त सूत्र से उन्होंने इस बात का पता पा लिया था कि तुम्हारी पत्नी के गर्भ है । विनोदी जीव हैं, इसीलिये उन्होंने भी इस मामले को तुमसे गुप्त रक्खा । उस दिन तुम्हें जिस लड़की के दर्शन कराए गए थे, वह उनकी साली थी । चमेली का विवाह उन्हीं दिनों उसी ग्रैजुएट के साथ कर दिया गया था ।

मेरे पास भी कमला के भाई का एक पत्र आया था । इस संवाद को छिपाने के लिये उन्होंने मुझे खास तौर से पत्र लिख दिया था । इस षड्यंत्र की उत्पत्ति मैंने ही की थी । इसीलिये उसे इस रूप में पाकर मैं उसका अगुआ बन गया हूँ । मैंने भी तुम्हें कुछ नहीं बताया, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ । गुमनाम मित्र का पत्र भी मेरा ही लिखा हुआ था । इस मामले में अब चारों ओर हर्ष-ही-हर्ष दृष्टि-गोचर होता है । हाँ, तुम थोड़े-से बेवकूफ अवश्य बन गए । कमला की बीमारी के इतने समाचार सुनकर भी तुम उसे देखने न गए ।

यदि इस बीच में एक बार भी हो आते, तो यह नौबत न आती।

तुम्हारा—
ललिताप्रसाद

(११)

आगरा
७।२।२४

प्यारे,

कई दिन की बात है, तुम्हारे उन मित्र का एक पत्र फिर इलाहाबाद से लौटकर यहाँ आया था। मैंने तो उसे नहीं पढ़ा, पर भाभी ने पढ़ लिया है। उन्हीं के कहने से मैं उनका यह संवाद लिख रही हूँ कि जिस चमेली के पीछे तुमने कमला की खबर नहीं ली, उसे देखना हो तो यहाँ आकर देख जाओ। वह यहीं ब्याही है। तुम्हारा नाम सुनकर वह बहुत झेंप जाती है। और किशोरी बाबू की उस साली को, जिसे तुमने चमेली समझा था, तुम नहीं जानते? वह मेरी फुफेरी बहन है। बड़ी चंचल है। कहती है, जीवन बाबू ने धोखे से देख भी लिया, पर मुझे कुछ खिलाया नहीं!

मेरी तबीयत अब अच्छी है। आओगे नहीं?

तुम्हारी—
कमला

अविवाहिता

(१)

संयोग से विनोदविहारी और शरदकुमारी का जन्म एक ही दिन, और एक ही नक्षत्र में हुआ था। विनोदविहारी के पिता बाबू बाँकेविहारी प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कॉलेज के अध्यापक थे, और शरदकुमारी के पिता बाबू शीतलाचरण बनारस के हरिश्चंद्र हाई स्कूल में हेडमास्टर थे। दोनो में बड़ी घनिष्ठता थी। बाँकेविहारी के पूर्वज काशी के ही निवासी थे। उनका बाल्य-काल और युवा-काल भी काशी में ही व्यतीत हुआ था। बाबू बाँकेविहारी ने कॉलेज की शिक्षा प्रयाग में ही पाई थी। अतएव लगातार ६ वर्ष से वे प्रायग में ही रहते थे। इसके पश्चात् कायस्थ पाठशाला कॉलेज में प्रोफ़ेसर का पद प्राप्त कर वहीं रहने लगे थे। जिन दिनों वह बी० ए० में पढ़ते थे, उन्हीं दिनों उन्हें विनोदविहारी के जन्म के साथ ही शरदकुमारी के जन्म का संवाद मिला। इस संवाद को सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। यदि परीक्षा के दिन सन्निकट न होते, तो संभव था कि वे २-३ दिन लिये काशी अवश्य आते।

बाबू शीवलाचरण कलकत्ता-युनिवर्सिटी से ग्रेजुएट होने के बाद काशी के हरिश्चंद्र हाई स्कूल में हेडमास्टर का पद मिलने पर स्थायी रूप से वहीं रहने लगे थे। इनकी आयु बाबू बाँकेविहारी की आयु की अपेक्षा लगभग ४ वर्ष अधिक थी। बाबू बाँकेविहारी जब कभी छुट्टी के दिनों में काशी आते, तो बाबू शीतलाचरण को बड़ी प्रसन्नता होती। इस प्रसन्नता के उपलक्ष्य में वे कभी-कभी उनकी दावत भी

करते थे। इसके अतिरिक्त बाबू बाँकेबिहारी का अधिक समय उन्हीं के घर में बीतता था। शीतलाचरण को फ़िलॉसफ़ी से अधिक प्रेम था। वे बाबू बाँकेबिहारी से फ़िलॉसफ़ी के विषय में यदा-कदा प्रश्न भी करते थे। बाबू बाँकेबिहारी को भी फ़िलॉसफ़ी से प्रेम था; परंतु उनकी रुचि अर्थ-शास्त्र की ओर धीरे-धीरे खिंच रही थी। छुट्टी समाप्त होने पर जब बाँकेबिहारी प्रयाग को प्रस्थान करते, तो विदा होते समय बाबू शीतलाचरण उनसे यह अवश्य पूछते "बोलो, अब कब मिलोगे।" बाबू बाँकेबिहारी उत्तर में ठीक-ठीक वादा न करके प्रायः यही कहते "जहां तक हो सकेगा, शीघ्र ही किसी पाँच-छ दिन की तातील में आऊँगा।"

(२)

विनोदबिहारी जब पैरों चलने योग्य हुआ, शरदकुमारी के घर खेलने जाने लगा। शरद जब विनोदबिहारी को आते हुए देखती, तो मा के पैरों में लिपट जाती, और तोतली बोली में कहती—"अम्मा, बिहाली आया, बिहाली।" विनोद दौड़ता हुआ आता और कहता—"छलद, ओ छलद, देख मैं आज छिवाजी की मूलत लाया हूँ, देख, कैछा छुंदल है!" शरदकुमारी भी कहती—"औल मेली यह गुलिया छुंदल नहीं है?" शरद की मा ये झगड़े देख कर बलिहार जाने लगती।

विनोद और शरद का शैशव-काल इस प्रकार बड़े आनन्द से बीता। जब कुछ बड़े हुए, और तुतलाहट जाती रही, तो दोनों एक ही स्कूल में भरती हुए। दोनों साथ ही पढ़ने जाने लगे, साथ ही स्कूल में मिठाई खाते और साथ-ही-साथ अपने-अपने घरों को वापस आते। विनोद खाना खाने के पश्चात् शरद ही के घर आकर खेलता और पढ़ता। जिस दिन छुट्टी होती, उस दिन शरद स्वयं विनोद के घर जाती, और वहीं खेला करती। दोनों स्कूल में बड़े तेज छात्र गिने जाते थे। विनोदबिहारी

गणित में प्रथम आते, तो शरद भाषा-व्याकरण में नंबर मार ले जाती। शरदकुमारी जब कभी कहती—"गणित बड़ा रूखा विषय है। मेरी रुचि ही उस ओर नहीं, नंबर में किस तरह अधिक पाती?" तो विनोद कहता—"कठिन विषय ही अधिक रूखे होते हैं। शरदकुमारी को सरलता अधिक प्रिय है। है भी वह सरलता की मूर्ति, इसीलिये शुष्क विषय उसे कम पसंद है।" शरदकुमारी जब विनोद के मुँह से अपनी सरलता की प्रशंसा सुनती, तो वह अपना मुख नीचा कर लेती और मुस्करा देती और प्रायः निरुत्तर रह जाती। धीरे-धीरे दोनों ने हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर ली। दोनों प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। बाबू बाँकेबिहारी और शीतलाचरण दोनों को इस परीक्षा-फल से बड़ी प्रसन्नता हुई।

(२)

विनोदबिहारी हिंदू-विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे। बाबू शीतलाचरण ने शरदकुमारी को अधिक पढ़ाना अनुचित समझा। शरदकुमारी की अवस्था इस समय विवाह के योग्य हो चुकी थी। शीतलाचरण को शरद के विवाह की अभी तक चिंता न थी। उन्होंने पहले से ही तै कर रक्खा था कि मैट्रिक की शिक्षा समाप्त कर लेने पर शरद के विवाह का प्रश्न उठाना उचित होगा। अब वह अवसर भी आ गया। विनोद ने अर्थ-शास्त्र ही लिया। वह इस विषय का गहन अध्ययन करते रहे। एक दिन जब बाबू बाँकेबिहारी छुट्टी में घर आए, तो विनोद ने उनसे कहा—"आप यदि प्रयाग छोड़कर यहीं (काशी) आ जायँ, और हिंदू-युनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर हो जायँ, तो मुझे भी लाभ हो और आपको भी यहाँ रहने में आराम मिले।" बाबू बाँकेबिहारी ने उनका यह परामर्श मान लिया, और दो मास बाद काशी के हिंदू-विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गए।

शरदकुमारी यद्यपि नियमित रूप से कालेज की शिक्षा से वंचित हो गई, परंतु उसने अपना अध्ययन पूर्ववत् जारी रक्खा। धीरे-धीरे उसने अंग्रेज़ी-साहित्य का ख़ूब अध्ययन किया। हिंदी और संस्कृत-साहित्य में भी उसने विशेष गति प्राप्त कर ली। शीतलाचरण ने शरद के लिये उपयुक्त वर तलाश करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी, परंतु इन दो वर्षों के अंदर उन्हें योग्य वर न मिला। एक दिन उन्होंने इस संबंध में अपनी स्त्री से पूछा—"शरद के विवाह के विषय में तुम्हारी क्या राय है?"

स्त्री ने उत्तर दिया—"शरद का विवाह यथासंभव शीघ्र ही कर डालना चाहिए, तुम्हें यह सब बतलाना मेरे लिये धृष्टता की बात है।"

शीतलाचरण—"इस समय यह विनीत भाव रहने दो। यह बताओ कि तुमने शरद से उसके विवाह के विषय में कभी पूछा है?"

स्त्री—"उसके विवाह के विषय में क्या कुछ पूछने की भी आवश्यकता है?"

शीतलाचरण—"क्यों नहीं? जिसके जीवन का एक महान् प्रश्न हल करने के लिये यह सब कुछ किया जाता है, उसकी रुचि और भावना मालूम किए बिना उसके भाग्य का निर्णय करना उसके प्रति स्वेच्छाचार करना है। और इस प्रकार का स्वेच्छाचार ही भारतीय समाज के ह्रास का कारण है।"

स्त्री—"मेरा भी यही विश्वास है, पर इस संबंध में उससे प्रत्यक्ष बातें तो की नहीं जा सकतीं! अब मैं गुप्त रूप से उसके विचार जल्दी ही जानने का प्रयत्न करूँगी।"

शीतलाचरण—"परंतु इस संबंध में शीघ्रता की अधिक आवश्यकता है।"

स्त्री—"मुझे यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।"

(४)

विनोदविहारी अब शरद के घर बहुत कम आते हैं। एक दिन जब वह कालेज से घर जा रहे थे, बाबू शीतलाचरण की उनसे रास्ते में भेंट हुई। उन्होंने कहा—"आजकल घर बहुत कम आते हो, क्या इतना भी समय नहीं मिलता ?"

विनोद बाबू ने कहा—"जी, आजकल अवकाश कम मिलता है। इसीलिये आना नहीं होता।"

शीतलाचरण गंभीरता- पूर्वक बोले—"कुछ आवश्यक बातें करनी हैं। परसों सायंकाल को अवश्य आइएगा।"

विनोद—"अच्छा, अवश्य आऊँगा।"

शरदकुमारी का सारा समय साहित्य के अध्ययन में व्यतीत होने लगा; परंतु जब लगातार कई महीने विनोद बाबू से भेंट न हुई, तो उसके मन में भाँति-भाँति के विचार आते रहे। न मिलने पर बढ़ी हुई उत्कंठा को दबाकर कभी-कभी वह सोचती—"यदि उन्हें यहाँ आने का अवकाश नहीं मिलता, तो इसमें बुरा मानने और हृदय में किसी प्रकार की वेदना उत्पन्न करने की कौन-सी बात है ?" कभी सोचती—"एकाएक इस प्रकार आना बंद कर देने का कोई विशेष कारण अवश्य है।" कभी सोचती—"उस दिन मा ने बताया था कि विनोद के पिता उनका विवाह करने वाले हैं। किंतु इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? हाँ, उन्होंने एक दिन विवाह के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था—'देश को इस समय कुछ ऐसे कर्मवीर युवकों की आवश्यकता है, जो अपना समस्त जीवन अर्पित कर सकें। और यह मानी हुई बात है कि बिना अविवाहित रहे देश की आवश्यकता पूरी नहीं की जा सकती। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं। अनेक युवक कुटुंबिक बंधनों में ग्रस्त रहने के कारण अपने व्रत को पूरा न कर सके, और इसका

परिणाम यह निकला कि जिन नेताओं को वे देश की अमूल्य संपत्ति के नाम से पुकारते थे, उन्हीं की जान पर बीती। यदि युवक अपने व्रत को पूरा निभाते, तो बहुत संभव था कि वे उन महान् आत्माओं को उनके उत्सर्ग का पुरस्कार भी दे सकते। परंतु उनकी इस कर्तव्य-भ्रष्टता ने उन नेताओं को सदैव के लिये अपने किए हुए कार्यों का उपसंहार स्वरूप सौभाग्य-सुख लाभ करने से वंचित किया। रूस की राज्य-क्रांति के इतिहास में दर्जनों स्त्री-पुरुष ऐसे मिलते हैं जिन्होंने अविवाहित रहकर देश की जितनी सेवा की, विवाहित होने पर वे उतनी न कर सकते। मेरी समझ में हमारे देश की वर्तमान स्थिति में भी ऐसे ही अविवाहित युवकों की आवश्यकता है। मैं प्रयत्न करूँगा कि मैं भी इसी सेना का सैनिक बनूं। हाँ, जब विनोद के ये विचार थे, तो फिर उन्होंने विवाह करना कैसे स्वीकार कर लिया! नहीं विनोद के संबंध में इस प्रकार के संदेह करना मेरे लिये सर्वथा अनुचित है। विनोद से ऐसी आशा नहीं। जो हो, स्वयं उनसे इस संबंध में मिलकर बातचीत किए विना, कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।"

शरदकुमारी भी अब प्रति दिन विनोद के घर नहीं जाती है। कभी-कभी जाती है और एक-आध घंटे में विनोद के संबंध में दो-चार बातें सुनकर चली आती है। एक दिन विनोद की मा ने कहा—"अभी-अभी तो आई ही है, ज़रा और बैठ। विनोद को इन दिनों अवकाश नहीं मिलता। घर में वह सिर्फ़ भोजन करने के लिये आता है। कभी-कभी घर आता भी नहीं, वहीं कॉलेज-होस्टल में ही भोजन कर लेता है। तुम्हारे संबंध में वह अक्सर पूछा करता है। तेरी मा उस दिन तेरे विवाह के विषय में बातचीत करती थी। क्यों विवाह करेगी?"

शरद ने संकोच से अपना सिर नीचा कर लिया, और उत्तर के लिये भाषा और शब्द खोजने लगी। उसके निरुत्तर रहने पर विनोद

की मा ने फिर पूछा—"क्यों ? बोलती क्यों नहीं ? ऐसी लज्जा किस काम की, कि अपना मंतव्य प्रकट करने से भी वंचित रहना पड़े ?"

शरद ने एक काग़ज़ पर लिखा—"हम लोग राष्ट्रीय सेना के सैनिक हैं—विवाह नहीं करेंगे।" इसके बाद कुछ भी सुनने का अवसर न देकर शरद चलती हुई।

(४)

इस बात को हुए ठीक चार वर्ष और बीत गए। असहयोग आंदोलन प्रबल वेग के साथ देश-भर में फैला हुआ है। महात्मागांधी ने भी घोषणा कर दी—"राष्ट्र-व्रत के व्रती ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करें।"

इस बीच, बाबू बाँकेविहारी तथा शीतलाचरण ने विनोद और शरद को अपने-अपने विवाह-संबंध के लिये भर सक विवश किया; किंतु अंत में दोनों में से किसी ने भी विवाह करना स्वीकार न किया। विनोदविहारी संयुक्त-प्रांत में आंदोलन का संगठनात्मक कार्य करने के लिये निकल पड़े। उन्होंने बी० ए० की परीक्षा में सम्मिलित होना भी अनुचित समझा।

शरदकुमारी, आजकल 'वीणा'-नामक मासिक पत्रिका की मुख्य संपादिका हैं। उसके द्वारा प्रस्फुटित शरदकुमारी के स्वतंत्र विचारों की आजकल हिंदी-संसार में बड़ी धूम है।

एक दिन शरदकुमारी ने प्रयाग के 'इंडिपेंडेंट'-नामक दैनिकपत्र में पढ़ा—"विनोदविहारी १२४ अ के जाल में आकर ६ मास के लिए जेल भेज दिए गए।" नैनी-जेल में विनोद ने 'वीणा'-संपादिका के पास एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था—'

प्रिय शरद,

बहुत दिनों के बाद मुझे आज तुम्हें पत्र लिखने का अवकाश मिला है। आशा है, इसके लिये तुम मुझे क्षमा करोगी। मुझे इससे बढ़कर

और किस संवाद में अधिक सुख मिलेगा कि तुम देश के साथ और साथ-ही-साथ मेरे साथ हो।

तुम्हारा—
विनोद

❀ ❀ ❀

आज रविवार का दिन है। जेल के राजनीतिक क़ैदियों से मिलने के लिये बहुत-से लोग एकत्रित हैं। एकाएक फाटक खुला। लोग अंदर जाने लगे। शरद ने भीतर प्रवेश किया। विनोद ने शरद की ओर देख-कर मुसकिरा दिया! विनोद की इस मुसकिराहट में क्या-क्या था, सो शरद से छिपा न रहा। बातचीत प्रारंभ होने के अवसर पर विनोद ने देखा—शरद की आँखों से आँसू गिर रहे थे!

अपराधी

(१)

सावित्री एक मैली धोती पहने बरतन मल रही है। अकस्मात् घर में राजरानी ने आकर कहा—"संध्या होने चली है, और अभी तक बरतन ही मले जा रहे हैं! घर-भर में कूड़ा-करकट फैला है, झाड़ू तक नहीं दी गई?"

राजरानी की बात समाप्त होते ही एक लड़की ने कहा—"मा, भावज से मैंने खाने को माँगा था; पर उसने मुझे खाने को नहीं दिया, मैं भूख के मारे रोती रही।"

राजरानी—"वह खाने को क्या देगी, रूप से जान पड़ता है, मानो भाड़ झोंका करती है।"

सावित्री बरतन मलती रही। राजरानी की बातों का उत्तर देने का उसे साहस न हुआ। कुछ देर ठहरकर राजरानी ने फिर कहा—"अभी कितनी देर तक बरतन मले जायँगे? बरतन ही हैं, या और भी कुछ काम है?"

सावित्री जैसे-तैसे बरतन मलकर उठी और झाड़ू लेकर घर की सफ़ाई करने लगी। राजरानी ने आकर बरतनों को उलट-पलटकर देखा और बोली—"यह देखो बरतन सब जूठे पड़े हैं। कोई बरतन ऐसा नहीं, जिसमें जूठन न लगी हो। किसी बरतन का कालापन नहीं छूटा। इससे तो यही अच्छा हो कि मैं ही बरतन धो लिया करूँ। लेकिन मैं ही क्या-क्या कर लूँगी। कोई भी काम तो करते नहीं बनता।"

बरतनों के पास से हटकर राजरानी दालान के पास खड़ी होकर देखा, और लाल-लाल आँखें निकालकर बोली—' बरतनों की यह हालत है, कूड़े-करकट की यह दशा है कि आधा साफ़ किया गया और आधा यहीं पड़ा हुआ है। रहने दे, मैं साफ कर लूँगी।" यह कहती हुई राजरानी सावित्री के पास गई, और झपटकर सावित्री के हाथ से झाड़ू छीनकर घर में बुहारी देने लगी।

घर में मा को चिल्लाते हुए जानकर बाहर से सूर्यकुमार ने आकर देखा कि मा घर में बुहारी दे रही हैं, और सावित्री आँगन में एक स्थान पर बैठी हुई है। सूर्यकुमार. ने यह देखकर कहा—' मा, क्या बात है ? तुम झाड़ू क्यों दे रही हो ?" राजरानी ने कहा–"झाड़ू न लगाऊँ तो क्या कूड़े-करकट पर बैठूँ ? सात हाथ की जो भवानी ब्याह लाए हो, उससे तो घर का कूड़ा-करकट भी साफ़ नहीं होता। जो बरतन धोए हैं, उनमें भी जूठन लगी है। ऐसा कोई बरतन नहीं है जिसमें जूठन न लगी हो। मैं तो बाज आई ऐसे काम करवाने से। जूठे बरतनों में खाने से तो यही अच्छा है कि मैं खुद ही उन्हें धो लिया करूँ।"

राजरानी इसी तरह बकती-झुंझलाती घर में झाड़ू देती रही। सूर्यकुमार भी लौटकर बाहर चले गए।

दरवाज़े पर एक नीम का पेड़ है। उसके नीचे एक चारपाई पड़ी है सूर्यकुमार उस पर लेटकर सोचने लगे—"सावित्री के कारण मुझे नित्य अपमान सहना पड़ता है। परमात्मा ने इसे कुछ भी समझ न दी, छोटी-छोटी लड़कियाँ घरों का सब काम-काज किया करती हैं, इससे कुछ भी नहीं होता। विवाह में सुना था कि लड़की पढ़ी-लिखी है। सो पढ़ना-लिखना तो दूर रहा, उसका एक-एक काम मूर्खता से भरा है।" इस प्रकार सावित्री की एक-एक बात का स्मरण करते हुए सूर्यकुमार के हृदय में उसके प्रति क्रोध और घृणा के भाव पैदा होने लगे।

(२)

राजरानी के इस व्यवहार से घर के सभी लोग सावित्री से घृणा करने लगे। दोनों छोटी-छोटी लड़कियाँ तथा वृद्ध ससुर भी सावित्री को देखकर कुढ़ने लगे। राजरानी तो दिन-भर उस पर अप-शब्दों की वर्षा ही करती रहती। सारे घर के इस व्यवहार, निंदा, अपमान और व्यंगोक्तियों को सुनते और सहते हुए सावित्री अपने आपको भूल गई। कोई भी काम करते समय जब किसी के मुख से कोई बात निकलती, सावित्री किसी एक ओर देखकर चित्र-लिखित-सी रह जाती। कोई बात मानो उसकी समझ ही में न आती थी। सब प्रकार अपनी असमर्थता से क्षुब्ध होकर सावित्री की मानसिक व्यथा बढ़ने लगी। उसे अपने जीवन से भी घृणा होने लगी। खान-पान, उठने-बैठने तथा कहने-सुनने में वह हर घड़ी संकोच से काम लेने लगी। इस दशा में उसे प्रायः कई-कई दिनों तक नहाकर कपड़े बदलने का भी अवसर न मिलता। उसके नित्य पहनने के कपड़े इतने मैले हो गए कि उसके पास बैठने वालों को बुरा मालूम होने लगा। यदि कोई उससे कुछ खाने के लिये कहता; तो खा लेती, न कहता तो न खाती। उसे खाने में रुचि न रही। जो कुछ खाने को मिल जाता; उसी में संतोष कर लेती। फलतः उसका शरीर रात-दिन की चिंता और खान-पान की कुव्यवस्था से अत्यंत ही दुर्बल हो गया। उसके कृश-शरीर पर अपरिष्कृत वस्त्र देखकर मुहल्ले का जन-समाज भी उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगा।

रात-दिन की हाय-हाय और झंझट सुनते और देखते हुए, सावित्री से सूर्यकुमार का जी ऊब उठा। वे सोचने लगे—"क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। अब तो मैं चाहता हूँ कि इससे मेरा पिंड छूट जाय; अन्यथा मेरे मुख की यह कालिमा दूर न होगी।"

ससुराल आकर सावित्री अपनी निरंतर असमर्थता और अनुपयोगिता का अनुभव करते-करते इतनी दुखी हो गई कि उसे अपना जीवन भार जान पड़ने लगा। वह सोचने लगी—"जहाँ मैं रहती हूँ और जहाँ मुझे अपना सारा जीवन व्यतीत करना है, वहाँ मेरा कोई नहीं है। सभी मुझसे घृणा करते हैं। सभी के लिये मैं क्षण-क्षण असह्य भार प्रतीत हो रही हूँ। मुझे पाकर जिन्हें संतोष करना चाहिए था, और यदि वास्तव में मुझमें कुछ दोष था, तो जिन्हें समझाकर मुझे सांत्वना देते हुऐ उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए था, वह भी मौन हैं। ऐसे मौन हैं, मानो मुझसे उनका कोई नाता ही न हो। एक दिन के लिये भी उन्होंने मुझे अपना न समझा। प्यार करना, प्रेम की दृष्टि से देखना, और प्रेमालाप करना तो दूर रहा, उन्होंने किसी दिन मुझसे सहानुभूति-पूर्ण एक बात तक न की। यहाँ आए हुए जितना अधिक समय बीतता जाता है, उतनी ही प्रयोजन-हीन मिट्टी की ठीकरा-सी मैं होती जाती हूँ।"

कुछ दिन तो सावित्री आत्मघात करके जीवन विसर्जन करने की बातें सोचती रही, पर उसे माता-पिता और भाइयों की मोह-ममता ने ऐसा न करने दिया। अंत में उसने अपने पिता के नाम एक पत्र लिखा। पत्र पाकर उसके पिता तुरंत लिवाने के लिये आ गए। यहाँ आकर सावित्री की दशा देख उन्हें बड़ा विस्मय हुआ।

सूर्यकुमार के वृद्ध पिता ने सावित्री के पिता का आदर करना तो दूर रहा, उलटे सावित्री की निंदा करते हुए उनका अपमान किया। सावित्री के पिता सीधे-सादे व्यक्ति थे। उन्होंने मानसिक व्यथा का अनुभव करने के अतिरिक्त और कुछ न कहा। जिस समय उन्होंने अपनी बेटी को बिदा करने का प्रस्ताव किया, घर के सब लोग बड़े प्रसन्न हुए। राजरानी ने तो यहाँ तक कह डाला—"अच्छा तो है, लिवा ले जायँ। हमें ऐसी गोबर-गणेश लड़की न चाहिए। मैं अपने लड़के

का दूसरा विवाह कर लूँगी।" सावित्री रो-धोकर अपने पिता के साथ चली आई।

सूर्यकुमार अधिक पढ़े-लिखे तो न थे, पर सांसारिक बातों में चतुर और कार्य-कुशल थे। पढ़ने-लिखने का चाव था, लेकिन पिता की आज्ञा से उन्हें पढ़ना बंद कर देना पड़ा था। उनकी माता का उनके बालपन में ही देहावसान हो गया था। इसलिये उनके पिता रामकृष्ण ने अपना दूसरा विवाह, राजरानी के साथ, कर लिया था। राजरानी के विवाह के कुछ ही दिन बाद सूर्यकुमार का पढ़ना बंद हो गया। सूर्यकुमार को घर बैठे-बैठे आज चौथा-पाँचवाँ वर्ष हो रहा है। अब तक राजरानी ने सूर्यकुमार के लिये कभी कोई बात न कही; पर विवाह हो जाने के पश्चात् भी सूर्यकुमार का निरुद्योगी होकर बैठे रहना और उसके स्वामी की कमाई को खाना-उड़ाना उसको किसी प्रकार सह्य न हो सका। सूर्यकुमार के इस पाप का दंड सूर्यकुमार को न देकर राजरानी सावित्री पर जलने लगी थी। इसी द्वेषाग्नि के कारण सावित्री के व्यावहारिक जीवन की एक-एक बात में राजरानी को अवगुण और दोष दिखाई देने लगे थे।

सावित्री पढ़ी-लिखी और विनोद-प्रिय बालिका है। विवाह हो जाने पर भी उसका बालपन न गया। ससुराल जाकर, और काम-धंधे में लगे रहने पर भी, उसका जी रामायण और स्त्री-सुबोधिनी आदि पुस्तकों में रक्खा रहता है। शैशव-काल में उसने अधिक काम नहीं किए थे; इसीलिये ससुराल में काम करते हुए, काम जल्दी समाप्त करके पढ़ने-लिखने और हमजोलियों में बैठकर जी बहलाने की याद उसे न भूलती थी। गृह-कार्य और परिश्रम में कुशल न होते हुए भी सावित्री मूर्ख न थी, किंतु राजरानी के द्वेष-जनक व्यवहार से वह अयोग्य और मूर्ख हो गई थी। माँ की रात-दिन घृणा और उलाहने की बातें सुनते-सुनते

सूर्यकुमार के हृदय में भी सावित्री के प्रति घृणा और उलहाने ने स्थान कर लिया था। विवाह होने के समय सूर्यकुमार ने सावित्री की प्रशंसा में जो बातें सुन रक्खी थीं, वे उसमें एक भी न दिखाई पड़ीं। सावित्री के चले जाने पर सूर्यकुमार के सिर से भार-सा उतर गया। किंतु उन्हीं दिनों में सूर्यकुमार को अपनी परिस्थिति का ज्ञान हुआ। विवाह के प्रथम जितने उत्साह और उल्लास में उन्होंने अपना भविष्य अनुभव किया था, विवाह होकर, सावित्री के आ जाने पर, उन्हें उसका कुछ भी फल दृष्टिगोचर न हुआ। सूर्यकुमार को इसका कारण सावित्री की अयोग्यता तथा दरिद्रता ही जान पड़ी। सावित्री के चले जाने पर सूर्यकुमार को बोध होने लगा, मानो सावित्री गई, और जीवन-भर के लिये गई! उसके रहने से ही क्या होता। उसके जीवन से लाभ ही क्या हो सकता है! जीवन के दो-चार वर्ष भी ऐसे न बीते, जिनमें मैंने सावित्री को पाकर अपने को कृतकृत्य समझा होता! सूर्यकुमार को अपने जीवन में यह एक अभाव-सा प्रतीत होने लगा।

सावित्री के चले जाने पर लगभग एक वर्ष तो राजरानी को कुछ कहने-सुनने का साहस न हुआ। उसके पश्चात् सूर्यकुमार की निरुद्योगिता देखकर उसे किसी प्रकार संतोष न हुआ। कुछ दिनों तक वह मन-ही-मन अनेक प्रकार की बातें सोचती रही। जब उसने देखा कि उनसे कुछ भी काम की आशा नहीं है, तो उसने अपने व्यवहार से सूर्यकुमार को एक प्रकार की चेतावनी देना आरंभ कर दिया। घर-गृहस्थी की दशा पर रात-दिन रोना और आर्थिक परिस्थिति की बातें सुनकर सूर्यकुमार ने अपना कर्तव्य निर्णय करने का प्रयत्न किया, पर वे कुछ निर्णय कर न सके।

राजरानी जब दूसरी स्त्रियों में बैठती, तो सूर्यकुमार का दुखड़ा रोती। जब अपने स्वामी से घर-गृहस्थी की बातें करती, तो

भविष्य-चिंतना करके आँसू बहाने लगती। घर की यह दशा देखकर रामकृष्ण ने एक दिन सूर्यकुमार को बुलाकर कहा—"घर की दशा तो जानते ही हो। आजकल समय ऐसा है कि निरुद्योग रहकर कोई अपना काम नहीं चला सकता। तुम भी अब बच्चे नहीं हो। तुम्हारी अवस्था के कितने लड़के न-जाने कितना काम-धंधा करते हैं, परंतु तुमसे कुछ भी नहीं होता। न घर का काम-काज देखोगे, न नौकरी करोगे। इस तरह कबतक काम चलेगा ?"

यह सुनकर सूर्यकुमार सोचने लगे कि मैं इसका क्या उत्तर दूँ ? मैं क्या कर सकता हूँ ? नौकरी कहीं मुझे मिल जाय, तो मैं कर सकता हूँ। किंतु घर के ये काम-काज ......नहीं; मुझसे नहीं हो सकते।

रामकृष्ण ने फिर कहा—"तुम क्या सोच रहे हो ? इस प्रकार कैसे काम चलेगा ?"

सूर्यकुमार—"यह तो मैं जानता हूँ कि कुछ पैदा करना चाहिए, किंतु मेरी समझ में नहीं आता कि मैं करूँ क्या। नौकरी कहीं मिल जाय..."

रामकृष्ण—नौकरी कहीं मिल जाय ? नौकरी क्या घर में रक्खी है, जो कोई निकालकर दे दे ? इतने दिनों से बैठे-बैठे खाते हो। तुम्हें घर की भी कुछ ख़बर है ? पैदावर कुछ होती नहीं। महाजन का ऋण बढ़ता जाता है। तुमने तो खा लिया, छुट्टी हो गई।"

यह कहकर रामकृष्ण चले गए। सूर्यकुमार बैठे-बैठे बड़ी देर तक सोचते रहे, पर उनकी समझ में कुछ न आया। सूर्यकुमार का स्वाभिमानी हृदय अपमान और अनुवेदना से टूक-टूक होने लगा। आज उनको अपने मस्तक पर कुछ बोझ-सा प्रतीत होने लगा। वह उठकर अब कहाँ जायँ, किससे बातें करें, कौन उन्हें रास्ता सुझाए। उन्हें कुछ न सूझा। कई दिन बीत गए, पर सूर्यकुार कुछ निर्णय न कर सके। कितने ही ऐसे

व्यक्ति थे, जो विभिन्न नगरों में नौकरी करते थे। सूर्यकुमार उनके पास जाकर उनसे बातें करने लगे।

राजरानी ने जब देखा कि इतनी बातें होने पर भी सूर्यकुमार पर कोई असर न हुआ, तो उसने एक दिन रामकृष्ण से कहा—"देखा, इतना सब कुछ कहा-सुना गया, पर कुछ फल निकला? मुझे तो मालूम है, उनसे कुछ हो नहीं सकता। उन्हें बैठे-बैठे खाने को मिलता जाय. फिर उन्हें किस बात की चिंता है?"

रामकृष्ण—"यह नहीं हो सकता। उनसे यदि कुछ न होगा, तो हमारा घर खाली कर दें। हम बैठे-बैठे किसी को नहीं खिला सकते।"

राजरानी—"यह कहने की ज़रूरत नहीं। उनसे काम करने को, कहो, जब न करेंगे, तो देखा जायगा।"

रामकृष्ण—"हाँ, यही ठीक है। और दो-चार दिन देखते हैं।"

धीरे-धीरे एक सप्ताह बीत गया। सूर्यकुमार के जीवन में राजरानी और रामकृष्ण को कुछ भी परिवर्तन न दिखाई पड़ा। ऐसी अवस्था में रामकृष्ण ने सूर्यकुमार से खेती-बारी का काम लेना आरंभ कर दिया। पिता की आज्ञा पाकर सूर्यकुमार खेतों में जाने लगे, और सारे दिन 'धूप' में मज़दूरों का काम करके अपने दिन बिताने लगे। दो ही तीन महीने में सूर्यकुमार का जी बहुत ऊब उठा

अब तक छाया में बैठकर या तो उन्होंने पुस्तकें पढ़ी थीं अथवा दो-चार आदमियों के बीच में बैठकर आनंद-विनोद किया था। एकाएक सारे दिन धूप और गरमी सूर्यकुमार को सहन न हो सकी। वह बीमार हो गए। कई दिन बीमार रहने के बाद जब उनकी तबियत अच्छी हुई, तो उन्हें फिर वही खेती का काम मिला। सूर्यकुमार का जी किसी तरह खेतों और जंगलों में जाने के लिये तैयार न होता था, किंतु पिता के डर से विवश होकर उन्हें जाना पड़ता। वे बार-बार सोचने लगे—

"एक तो मैंने कभी यह काम किया नहीं, फिर एकसाथ काम का इतना बोझ ? यह कैसे हो सकता है ? एक दिन की भी इसमें छुट्टी नहीं; घड़ी-भर के लिये भी विश्राम नहीं। मेरे कौन बैठा है, जिसके लिये मैं इतना परिश्रम करूँ ?" यह विचारकर जब कभी वह काम पर न जाते, तो उनसे कोई भी सीधे-मुँह न बोलता। अपने आप खाने के लिये घर चले जाते, खा आते, अन्यथा उन्हें कोई बुलाने भी न आता।

ऐसी दशा में एक वर्ष और बीत गया। सूर्यकुमार का जी घर से अत्यंत दुःखी हो गया। वह सोचने लगे—"मैं कहीं भी रहूँगा, पर घर का मुख न देखूँगा। भीख माँगकर खाऊँगा, पर यहाँ रहकर मज़दूर की दशा में जीवन बिताना एक क्षण के लिये भी स्वीकार न करूँगा।"

यह निश्चय करके सूर्यकुमार ने परदेश जाकर नौकरी करने की जी में ठानी। लेकिन एक कौड़ी भी पास नहीं थी। अब क्या करें ? सूर्य-कुमार ने सोचा—"पिताजी से कहूँगा, उन्होंने तो कहा है कि कुछ उद्यम करो। फिर सोचने लगे, यदि उन्होंने कुछ न दिया, तो ?"

इस प्रकार अनेक शंकाओं के साथ उन्होंने साहस करके एक दिन रामकृष्णसेकहा—"मेरा विचार बाहर जाकर नौकरी करने का है, मुझे कुछ रुपया दीजिए।"

रामकृष्ण—"जिसके लिए घर में कुछ नहीं हो सकता, वह बाहर जाकर क्या करेगा ? हमें तो विश्वास नहीं कि तुम्हें कहीं नौकरी मिल सके। फिर जैसी तुम्हारी इच्छा।"

सूर्यकुमार—"मैंने जाने का निश्चय कर लिया है। आप मुझे कुछ रुपए दे दीजिए।"

रामकृष्ण—"घर की दशा तो तुम जानते ही हो। भला घर में क्या रक्खा है ?"

सूर्यकुमार इस सूखे उत्तर को सुनकर काँप उठे। अब उनके पास ऐसा कोई साधन न रह गया, जिसके द्वारा वह कुछ प्रबंध कर सकते।

दो-तीन दिन और बीते। दो दिनों तक उन्होंने कुछ न खाया। जब किसी प्रकार उन्हें कुछ न सूझा, तो अपने गाँव के बाहर जाकर एक तालाब के किनारे बैठ गए और सोचने लगे—"अब मुझे क्या करना चाहिए?" अकस्मात् उन्हें सावित्री की याद आई। उनके हृदय में कुछ वेदना-सी उठी। वह वहाँ से चलकर घर आए, और अपना संदूक़ देखा। उसमें सावित्री का एक टूटा हुआ आभूषण रक्खा था। उसे पाकर सूर्यकुमार को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस आभूषण को एक सोनार के हाथ बेच डाला, और उससे चालीस रुपए लेकर कलकत्ते चले गए।

(४)

सावित्री जबसे अपने मायके आई है, नित्य अपनी मा को अपनी ससुराल की बातें सुनाया करती है। सावित्री के सास-ससुर की बातें सुनकर उसकी मा को बड़ा कष्ट होता है। सावित्री का स्वास्थ्य जितना नष्ट हुआ था, वह छः महीने घर रहने पर सुधर गया था। एक दिन सावित्री अपने घर के आँगन में बैठी हुई अपनी मा से बातें कर रही थी। उसके हाथ में एक पुस्तक थी। अकस्मात् दयाशंकर को आते देख सावित्री ने कहा—"मामू आपको आए अभी केवल चार दिन हुए हैं। अभी मैं आपको जाने न दूँगी।"

दयाशंकर ने कहा—"सावित्री, तुम मुझसे बातें करती हो, और मैं तुम्हारी दशा देखकर व्याकुल होता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हारे साथ उन्होंने ऐसा व्यवहार क्यों किया?"

सावित्री की मा ने दीर्घ श्वास लेकर कहा—"मैं नहीं जानती थी कि राजरानी रामकृष्ण की दूसरी स्त्री है। नहीं तो सावित्री का विवाह मैं वहाँ कभी न करती।"

उसके मुखसे अधिक कुछ न निकला। उसने अपना आँचल उठाकर अपनी आँखों का अश्रु-मोचन किया।

"तो क्या रामकृष्ण सावित्री को लिवाने कभी न आएंगे?"

"अब क्या आएंगे? आज तीसरा वर्ष है। पत्र-व्यवहार तक बंद है। सावित्री का भाग्य फूट गया।"

"सूर्यकुमार के क्या विचार हैं?"

"भैया क्या बताऊँ, मुझे तो सब एक-से जान पड़ते हैं।"

दयाशंकर ने सावित्री की ओर देखा। वह पत्थर की मूर्ति की तरह बैठी हुई थी। कभी वह पुस्तक खोलकर उसके अक्षरों का आकार-प्रकार देखने लगती, और कभी पुस्तक बंद करके हाथ की एक उँगली से भूमि पर अपने हस्ताक्षर करने लगती। सावित्री की अवस्था देखकर स्पष्ट बोध होने लगा; मानो वह इन बातों को सुनकर आंतरिक वेदना का अनुभव कर रही है।

दयाशंकर सावित्री के कहने पर दो दिन के लिये और ठहर गए। सावित्री का ज्ञान, पांडित्य और रूप-यौवन उसके भाग्य-हीन जीवन को और भी सकरुण बना रहा था। दयाशंकर सावित्री की बातें सुना करते, और एक-एक बात पर दुःख प्रकट करते।

जिस समय दयाशंकर वहाँ से बिदा होने लगे, सावित्री ने करुणा-भाव से देखा और रो दी। दयाशंकर ने सावित्री की पीठ पर हाथ रख कर कहा—"सावित्री! तुम दुःखी न हो, मैं तुमको देखने फिर आऊँगा।"

(४)

सूर्यकुमार को कलकत्ते आए हुए डेढ़ महीना पूरा हो गया; पर कहीं नौकरी न मिली। बहुत कुछ ढूँढने और भटकने पर भी कहीं कुछ पता न लगा। जो रुपए सूर्यकुमार अपने साथ लाए थे, उनमें बहुत कुछ ख़र्च हो गए। अब उनके पास बारह रुपए और रह गए। सूर्यकुमार

की जहाँ तक बस चला, उन्होंने कलकत्ते के समस्त कार्यालय तथा कारखाने छान डाले, पर कुछ भी आशा न हुई। इतने दिनों की चेष्टा से सूर्यकुमार को विश्वास हो गया कि मुझे नौकरी न मिलेगी। वे घबरा कर सोचने लगे—"मैं संसार में कितना बड़ा दुखिया हूँ। नौकरी के लिये मारा-मारा फिरता हूँ, पर कोई पूछता भी नहीं। यदि यही अवस्था १९-२० दिन और रही, तो भूखों मरने की स्थिति सामने आ जाएगी! यदि अब मैं घर भी लौटना चाहूँ, तो नहीं लौट सकता। क्या भूख के मारे तड़प-तड़पकर प्राण देना होगा?"

बहुत घबरा उठने पर एक दिन सूर्यकुमार सायंकाल अपने स्थान पर बैठे-बैठे रो उठे। उन्हें कुछ न सूझने लगा। अंत में उन्होंने निश्चय किया कि पाँच दिनों में कहीं नौकरी न मिली, तो घर लौटने की अपेक्षा यहीं आत्म-हत्या कर लूँगा।

सूर्यकुमार ने किसी प्रकार रात व्यतीत की। प्रातःकाल हुआ, १० बजे से घूमना आरंभ किया। और दिन-भर दफ़्तरों में घूमा किए। तीसरे दिन दोपहर को एक दफ़्तर में जाकर देखा—मैनेजर सामने कुर्सी पर बैठे हुए हैं। सूर्यकुमार उनके पास जाकर बैठ गए, और कहने लगे—"आपके यहाँ किसी क्लार्क की आवश्यकता है?"

मैनेजर—"आपकी योग्यता?"

सूर्यकुमार—हिंदी में मैंने मिडिल पास किया है। कुछ अंग्रेज़ी भी जानता हूँ।

मैनेजर ने काग़ज़ देकर कहा कि इस पर कुछ हिंदी और अँग्रेज़ी में लिखिए।

मैनेजर की बात सुनकर सूर्यकुमार को कुछ संतोष हुआ। हिंदी और अँग्रेज़ी में आवेदन-पत्र लिखकर दे दिया। मैनेजर ने पूछा—"आपका शुभ नाम?"

"मेरा नाम सूर्यकुमार है।"

मैनेजर ने सूर्यकुमार की ओर ध्यान-पूर्वक देखकर कहा—"अच्छा, आपको २५) मासिक वेतन मिलेगा।"

सूर्यकुमार यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। स्वीकार कर, दूसरे दिन से काम पर आने के लिये कहकर, अपने डेरे चले आए।

(६)

सूर्यकुमार को काम पर आते हुए १०-१२ दिन हो गए। मैनेजर ने एक दिन भी उनके काम से प्रसन्नता प्रकट न की। उनकी लेखन-शैली और पत्र-व्यवहार के ढंग पर मैनेजर प्रत्येक दिन अप्रसन्न होता था। कितने ही पत्रों को लेकर वह फाड़ डालता था। यह दशा देख सूर्य-कुमार सोचने लगे—"काम चलना कठिन है। जिस दिन मैनेजर ने स्पष्ट कहा, और हमारा हिसाब चुकता किया, उसी दिन दफ़्तर से चला जाना होगा। उस समय फिर क्या करूँगा?" यह सोचकर वे घबराने लगे। जिस समय वह अपनी अयोग्यता पर विचार करते, उनको किसी प्रकार विश्वास न होता कि मैं पत्र-व्यवहार भी नहीं कर सकता। वह सोचने लगते, इस समय मेरे दुर्दिन हैं, अयोग्यता का यही एक कारण है।

सूर्यकुमार जब दफ़्तर जाते, तो मैनेजर को देखकर उतना ही भय करते, जितना कसाई को देखकर गाय। दफ़्तर का एक-एक काम सूर्य-कुमार को काले साँप की तरह जान पड़ने लगा। सूर्यकुमार जो काम करते, उसे देखकर मैनेजर दाँत पीसकर कहता—"तुम कुछ नहीं कर सकते!" सूर्यकुमार दबी बिल्ली की भाँति चुप रह जाते, और फिर अपने दुर्भाग्य को कोसकर काम करने लगते। मैनेजर के व्यवहार से सूर्यकुमार को बोध होने लगा, मानो मेरा चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना और बतलाना भी मैनेजर को बुरा मालूम होता है।

मैनेजर स्वभावतः मेरा शत्रु है। ऐसी दशा में निर्वाह की क्या आशा की जा सकती है? मैनेजर को देखकर सूर्यकुमार उसके एक बार प्रसन्न होकर बोल देने की चाह करते, पर किसी दिन उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ।

दफ़्तर में मैनेजर की घुड़की-धमकी, उसका दुर्व्यवहार और घृणा-भाव दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया। सूर्यकुमार को यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि यह सब मेरे पृथक् करने की सामग्री है। ऐसी अवस्था में मेरा यहाँ बैठना और काम करना हास्यास्पद और अपमान-जनक है। किंतु यदि मैं त्याग-पत्र देता हूँ, तो फिर जाऊँगा कहाँ? नौकरी मिलना कठिन है। सूर्यकुमार का हृदय रात-दिन तर्क-वितर्क एवं चिंतना में रह-कर अत्यंत दुर्बल होने लगा। अंत में उन्होंने निश्चय किया कि जिस दिन मैनेजर मुझे पृथक् करेगा, उसी दिन मैं आत्म-घात करके प्राण विसर्जन करूँगा।

कई दिनों तक मैनेजर ने सूर्यकुमार के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया। सूर्यकुमार ने समझ लिया कि अब मेरा यहाँ बैठना असंभव है है। जिस समय सूर्यकुमार अपनी कुर्सी पर बैठे हुए यह सोच रहे थे, ठीक उसी समय मैनेजर ने आकर कहा—"आप दिन-भर बैठे रहते हैं, और जो काम करते हैं, वह रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य। हमें आपके रखने से क्या लाभ?"

सूर्यकुमार कुछ उत्तर न दे सके। मैनेजर बक-झककर अपने कमरे में चला गया। दूसरे दिन प्रातःकाल नौ बजे सूर्यकुमार मैनेजर के घर गए, और वह निश्चय करके गए कि मुझसे काम नहीं हो सकता, मैं त्याग-पत्र दे दूँगा। सूर्यकुमार ने वहाँ जाकर देखा, मैनेजर अपने कमरे में कुर्सी पर हुए बैठे हुए कुछ पढ़ रहे हैं सूर्यकुमार ने डरते-डरते प्रणाम किया, और पास खड़े होकर लिखा हुआ त्याग-पत्र दे दिया।

मैनेजर ने कहा—"क्यों, आपने दूसरे दफ़्तर में कहीं काम खोज लिया है क्या ?"

सूर्य०—"नहीं साहब !"

मैनेजर—"तो ?"

मैनेजर की सहानुभूति-पूर्ण बातें सुनकर सूर्यकुमार को कुछ कहने का साहस हुआ। उन्होंने सोचा—"आज मैं मैनेजर के चरणों पर गिरकर रोऊँगा, और कहूँगा कि मैं बड़ा दुःखी हूँ। मुझे आप अपनी सेवा करने दीजिए। किंतु वह अपने आपको सँभालकर खड़े हो गए, और साहस करके बोले—"आपके व्यवहार से मुझे अपने जीवन का एक-एक क्षण भार सा जान पड़ता है। बड़ी कठिनाई से मुझे नौकरी मिली थी। यहाँ से छोड़ देने पर दूसरी जगह कहीं नौकरी मिल सकती है, मुझे इस पर विश्वास नहीं। यह जानता हुआ......"

अधिक कुछ न कहकर सूर्यकुमार ने अपना मुख ढक लिया और रोने लगे। मैनेजर ने यह देखकर कहा—"इसका क्या अर्थ है ?"

सूर्यकुमार ने कुछ उत्तर न दिया। मैनेजर ने फिर कहा—"हमारे यहाँ आपको क्या कष्ट है ?"

सूर्यकुमार—"मेरा जीवन दुस्तर हो रहा है। मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिए।"

मैनेजर ने मुस्कराकर कहा—'अनुग्रह ?"

सूर्यकुमार ने चौंककर मैनेजर की ओर देखा। मैनेजर ने फिर कहा—"आप रहनेवाले कहाँ के हैं ?"

सूर्यकुमार—"इटावा-ज़िले के।"

मैनेजर—"आपके और कौन-कौन हैं ?"

सूर्य०—"मा, बाप, बहनें और······।"

मैनेजर—"आपका विवाह हो गया है ?"

सूर्य—"जी हाँ।"

मैने०—"आपकी स्त्री कहाँ है ?"

सूर्य०—"अपने मायके में "

मैने०—"क्यों ?"

सूर्यकुमार ने कुछ उत्तर न दिया। मैनेजर ने फिर पूछा—"कितने दिनों से मायके में है ?"

सूर्य०—"लगभग चार वर्ष से।"

मैने०—"क्यों ?"

सूर्यकुमार को सावित्री की दुरवस्था का स्मरण हुआ। वह अपने दुर्दिन तथा सावित्री की दुर्दशा सोचने लगे। मैनेजर ने फिर पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

उत्तर न देकर सूर्यकुमार ने दीन नेत्रों से मैनेजर की ओर देखा, और अपना मस्तक नीचे की ओर झुका लिया।

× × × ×

मैनेजर ने कंचनपुर पहुँचकर सूर्यकुमार को एक कमरे में आदर-पूर्वक बिठा दिया, और आप घर में चले गए। सावित्री ने देखते ही कहा—"मामू, तुम तो बहुत दिनों में आया करते थे। इस बार इतनी जल्दी कैसे आए ?"

दयाशंकर ने कुछ भी उत्तर न देकर मुस्किरा दिया।

सूर्यकुमार जिस कमरे में बैठे हैं, उसमें कितने ही चित्र लगे हुए हैं। बीच-बीच में हिंदी के शुद्ध और सुंदर मोटे अक्षरों में सावित्री के लिखे हुए फ़ोटो टँगे हैं। हिंदी की कितनी ही पुस्तकें रक्खी थीं, जिन पर सावित्री का नाम लिखा हुआ था। कमरे की सजावट और व्यवस्था देखकर यह अनुभव करते हुए कि यह सब सावित्री की ही रचना है, सूर्यकुमार मन-ही-मन सावित्री की योग्यता पर लज्जित होने लगे।

अचानक सावित्री ने कमरे में प्रवेश किया। सूर्यकुमार उसे देखते ही अनुभव करने लगे, मानो वह एक देवबाला आ रही है, और मैं उसके निकट ऐसा अक्षम्य अपराधी हूँ जिसको उससे बोलने का कोई अधिकार नहीं। सावित्री जितना ही सूर्यकुमार के निकट पहुँचती गई, उतना ही वह अपने आपको निर्जीव काष्ठ-निर्मित चित्र-सा अनुभव करने लगे। सावित्री के शरीर के प्रत्येक अंग से लावण्य-छटा बिखर रही थी, उसके मुख-मंडल की अप्रकट मुस्कराहट सूर्यकुमार को और भी लज्जित कर रही थी। सावित्री के पास आते ही सूर्यकुमार ने अत्यंत क्षुब्ध होकर कहा—"मैं अपराधी हूँ, मुझे दंड।"

सावित्री ने कहा—"अपराधी, अपराधी ! तुम नहीं, मैं ! मेरा भाग्य !"

थोड़ी ही देर में दोनों हृदय मिल गए।

दो संपादक

(१)

"आप प्रायः बिना सोचे-समझे जो चाहते हैं, लिख डालते हैं। आपको क्या, फँसेंगे तो हम, चक्की तो हमें पीसनी पड़ेगी। संपादकीय उत्तरदायित्व का आप प्रायः ध्यान ही नहीं रखते हैं। बड़ी बुरी बात है।"

"नहीं, सकसेनाजी, आपका यह भ्रम है। मैं जिस घटना में सार्वजनिक उपयोगिता की प्रचुरता देखता हूँ, उसी पर लेखनी उठाता हूँ। आप इस लेख को आद्योपांत पढ़ तो जाइए। मेरे विचार से आप इसमें वैसी कोई पकड़ में आजानेवाली बात नहीं पाएँगे।"

"यही तो मुझे आपसे शिकायत है, शर्माजी। मैं जो कुछ समझता हूँ, आप उसकी ओर ध्यान नहीं देते; व्यर्थ की बातें सोचते और तद्नुसार ही उत्तर देते हैं। किसी पत्र का संपादन करना खेल नहीं है। संपादन-कार्य जितने महत्त्व का है, उससे भी अधिक वह उत्तरदायित्व-पूर्ण है। इसी रामलीला के विषय में आपने हिंदुओं की कापुरुषता पर जो प्रकाश डाला है, और हिंदू-समाज को सचेत और सावधान करने के लिये जो बातें आपने लिखी हैं, वह संपादक को क़ानून के चंगुल में फँसाने के लिये पर्याप्त हैं।"

"तो फिर सच्ची बात तो यह है सकसेनाजी, कि देश और सार्वजनिक हित की दृष्टि से जो कुछ भी लिखा जायगा, वह सब किसी-न-किसी धारा के अंतर्गत आ ही जायगा। जब ओखली में सर दिया ही है, तो चोटों से क्या डर?"

"देखिए शर्माजी, आप यह ध्यान रक्खें कि आप किससे बातचीत कर रहे हैं। आपका उपदेश सुनने के लिये मैं इस कुर्सी पर नहीं बैठता हूँ। यदि आप हमारे आदेश के अनुसार कार्य करते हुए रहना चाहते हैं, तो सहर्ष रहिए, अन्यथा स्पष्ट रूप से यह कह दीजिए कि मुझे आपकी अधीनता स्वीकार नहीं है। व्यर्थ के उत्तर देने से तो आप का कोई प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं।"

"सुनिए सकसेनाजी, अभी तो मैंने कोई ऐसी बात कही नहीं, जिस में आपको कुछ भी उपदेश देने का भाव होता। मैंने तो केवल नीति की बात कही है। परंतु आप इसे भी अनुचित समझते हैं, तो मैं अपने शब्द वापस लेता हूँ। जब तक मैं आपके संपादकीय विभाग में हूँ, तब तक तो आपके आदेशानुसार, आपके अधीनस्थ रहकर, कार्य करने के लिये मैं बाध्य हूँ। आप जैसा कहिए, वैसा करूँ—जैसा बतलाइए, वैसा लिखूँ। आपकी दृष्टि में मेरा यह नोट आपत्ति-जनक है, तो इसे फाड़ डालिए आप जैसा बतलाइए, मैं फिर से वैसा लिख दूँ।"

बाबू रामप्रसादजी सकसेना ने 'मरहठा' के नोट में टिक-मार्क लगाकर शर्माजी को देते हुए कहा—"लीजिए, इसके आधार पर अपने ढंग से एक नोट लिख दीजिएगा। बुरा न मानिएगा। मैं जो कुछ कहता हूँ, इस कुर्सी पर बैठने की दृष्टि से कहता हूँ। यदि आप मेरे स्थान पर होते, तो मेरी धारणा है कि आप भी ऐसा ही करते।"

पं० रामजीवन शर्मा "मरहठा" का वह अंक सकसेनाजी से लेकर चुपचाप अपने स्थान पर चले आए। बाबू रामप्रसाद सकसेना ने शर्मा जी का लिखा हुआ नोट फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। पं० रामजीवन शर्मा संपादकीय विभाग के कमरे में आकर बैठ गए। मुकर्जी बाबू ने मुस्किराते हुए कहा—"कहिए शर्माजी, आज फिर छन गई?"

शर्माजी—"रोज़ ही छना करती है। आज कोई नई बात नहीं है।"

मुकर्जी—"किंतु मैं पूछता हूँ कि यह राग कितने दिन तक चलेगा ? आपकी पोस्ट पर, देखता हूँ कोई भी महाशय ६ मास से अधिक नहीं टिकते। आपको तो अभी दो ही मास हुए हैं। एक दिन इसका परिणाम यह होगा कि 'भारती' के सारे स्तंभ या तो संपादकजी स्वयं लिखेंगे, अथवा 'भारती' छोड़कर भागेंगे, क्योंकि रमेशबाबू भी एक ही ज़िद्दी हैं। मेरा अनुभव तो यह कहता है कि चाहे जो कुछ हो, वह 'भारती' को बंद करने का भाव कभी हृदय में नहीं लाएँगे।

शर्माजी—"परंतु मुकर्जी बाबू, एक बात मैं भी आपसे कह दूँ। वह यह कि मुझसे वे यह आशा न रक्खें कि मैं उनकी डाँट-डपट में आकर 'भारती' छोड़कर चल दूँगा। आया हूँ तो कुछ दिन रहकर, कुछ काम दिखाकर, जाऊँगा रही डाटने की बात। सो जब तक सर्विस करनी है तब तक तो किसी-न-किसी रूप में, कभी-न-कभी, डाँट सुननी ही पड़ेगी।"

(२)

रमेश बाबू 'भारती' के संचालक हैं। भारती साप्ताहिक समाचार-पत्र है उसके संपादकीय विभाग में इस समय तीन व्यक्ति हैं। बाबू रामप्रसादजी सकसेना मुख्य संपादक हैं, पं० रामजीवन शर्मा संयुक्त-संपादक और श्रीराधामोहन मुकर्जी सहकारी संपादक। रमेश बाबू का प्रेस निजी है। अतः 'भारती' के संचालन में उन्हें विशेष हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि 'भारती' को वे आजीवन चलाए जायँगे।

सकसेनाजी कार्यालय में बहुत कम आते हैं। संपादन का कुल कार्य वे अपने घर पर ही रहकर करते हैं। कार्यालय तो वे प्रायः तभी जाते हैं, जब उन्हें रमेश बाबू से मिलना होता है, अथवा संपादकीय विभाग में कोई विशेष बात होती है।

इस समय सक्सेनाजी रमेश बाबू के कमरे में बैठे हुए उनसे वार्त्तालाप कर रहे हैं। रमेश बाबू ने पान के दो बीड़े देते हुए कहा—"कहिए सक्सेनाजी, आपके नवीन सहायक शर्माजी कैसा कार्य कर रहे हैं? पहलेवाली शिकायत तो उनमें अब नहीं है? जब कभी जाता हूँ, क़लम घिसते अथवा 'बांबे क्रॉनिकल' के पन्ने उलटते हुए ही पाता हूँ।"

सक०—"यह तो सब कुछ ठीक है, रमेश बाबू। पर संपादकीय कर्तव्य केवल उलटी-सीधी बातें लिख देने से ही नहीं समाप्त हो जाता। इसके लिये चाहिए संसार की गति-विधि का अप टू-डेट ज्ञान और दूर-दर्शिता। सो, मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है, उनमें यथेष्ट नहीं है।"

रमेश—"दूर-दर्शिता तो जीवन के अनुभवों से आती है। संपादकीय जगत् में अभी उन्होंने कार्य ही कितना किया है? राजनीति के विषय में तो उन्हें पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। सुनता हूं, बी० ए० में उन्होंने पोलिटिकल साइंस का काफ़ी अध्ययन किया है।"

सक०—"यही तो हम लोगों में बड़ा भ्रम है, रमेश बाबू। युनिवर्सिटी की बाउँडरी से निकलते ही ये लोग राजनीति में अपने को चाणक्य का पिता समझने लगते हैं। बी० ए० की उपाधि क्या प्राप्त कर लेते हैं, संसार-भर के ज्ञान के भण्डार बन जाते हैं। पर जहाँ काम करने का अवसर आता है, झट बग़लें झाँकने लगते हैं। शर्माजी भी इन्हीं लोगों में से हैं। जब तक काम नहीं पड़ा था, मैं भी समझता था कि इनमें कुछ योग्यता है, पर इधर दो मास के उनके कार्य से स्पष्ट-रूप से ज्ञात हो गया कि मैंने उनको समझने में भूल की है। अभी परसों की बात है। इन दिनों, जिन नगरों में दशहरे के अवसर पर रामलीला नहीं हुई, वहाँ का हिंदू-समाज किन स्थितियों में था, इस का ध्यान छोड़कर आपने एक नोट में इस मामले में हिंदू-जनता को

खूब कोस डाला—उसे कायर और बुज़दिल, जो मन में आया, लिख डाला। मैं जो……।"

रमेश बाबू ने बात काटते हुए कहा—"अब ये भीतरी मामले आप जानिए। मुझे तो आदमी प्रतिभाशाली मालूम होता है। सिद्धांतों में यह भेद होना एक बात है, और योग्यता और बात है।"

सकसेनाजी ने कहा—"मैं भी उनको बिलकुल अयोग्य नहीं समझता, पर आपके पूछने पर यह कहना आवश्यक समझा कि जिस स्टैंडर्ड की योग्यता समझकर मैंने इन्हें बुलाया था, उस स्टैंडर्ड के ये नहीं हैं।"

रमेश—"ख़ैर, अभी तो आपका काम चल ही रहा है। कोई योग्य व्यक्ति दृष्टि में रखिए। अवसर पाते ही बुला लीजिएगा। शर्माजीको मैं प्रेस का मैनेजमेंट दे दूँगा। इस दशा से उनका वेतन भी बढ़ जायगा।—और कहिए, आज कैसे इधर कृपा की। कोई विशेष आज्ञा?

सकसेना—"कई दिनों से बच्चू की मा की तबियत विशेष रूप से ख़राब है। यों तो वह वर्षों से बीमार है, पर इधर देखता हूँ, उनकी दशा दिनो-दिन ख़राब होती जा रही है। अतः कुछ दिनों के लिये अब छुट्टी पर जाकर उसकी दवा कराना चाहता हूँ।"

रमेश—"मेरी राय में तो आप यहीं रहिए। 'भारती' के संपादन का समस्त कार्य अपने स्टाफ़ से लीजिए। थोड़ा-सा समय निकालकर देख-भाल करते रहिएगा।"

सकसेना—"नहीं रमेशबाबू, इस तरह से मैं उसकी दवा नहीं करा सकूँगा। यहाँ रहकर वह अच्छी हो सकती, तो अब तक कभी की अच्छी हो गई होती। उसके स्वस्थ होने के लिये जल-वायु का परिवर्तन अब आवश्यक हो गया है।"

रमेश—"तो आपकी अनुपस्थिति में स्थानापन्न संपादक शर्मा ही होंगे न?"

सकसेना—"मैं तो मुकर्जी बाबू को अधिक पसंद करूँगा।"

रमेश—"नहीं, यह ठीक न होगा, शर्माजी कभी इसे पसंद न करेंगे। मेरी राय में शर्माजी को ही रखिए। नीति स्थिर रखने के लिये मैं देख-भाल करता रहूँगा। शर्माजी को वेतन भी वही दिया जायगा, जो आप पाते हैं।"

सकसेना—"जैसी आपकी इच्छा। मैं छः मास के लिये जाऊँगा"

रमेश—"अच्छी बात है। 'भारती' को न भूलिएगा। जब कभी अवकाश मिले, अग्र-लेख तथा संपादकीय नोट्स भेज दिया कीजिएगा।"

सकसेना—"अभी से कुछ ठीक कह नहीं सकता। परिस्थिति अनुकूल होने पर जो कुछ हो सकेगा, करूँगा। अच्छा अब आज्ञा चाहता हूँ।"

रमेश बाबू ने ५००) के नोट निकालकर सकसेना को देते हुए कहा—"आवश्यक व्यय के लिये यह भेंट स्वीकार कीजिए।"

सकसेना ने आश्चर्य और हर्ष के सम्मिलित भाव से कहा—"इस कृपा के लिये मैं आपका बड़ा आभारी हूँ। अच्छा अब चलूँगा, परसों चलते समय आपसे पुनः मिलूँगा। प्रणाम।"

रमेश—"भाई, नमस्कार।"

(३)

शर्माजी आज बड़े चिंतित हैं। इस समय संपादकीय विभाग में केवल वही हैं। मुकर्जी बाबू बीमार हैं। उनकी बीमारी भी साधारण नहीं है। आँखें पीली पड़ गई हैं। दोनो पैरों तथा हाथों के जोड़ों और नसों में बड़ा दर्द रहता है। चल-फिर तक नहीं सकते। शाम के वक्त ३-४ बजे उन्हें ज्वर भी आ जाता है। वे कलकत्ता नगर छोड़कर अपने घर ढाका चले गए हैं। शर्माजी सोचते हैं, इस समय यदि दो सह-

कारी संपादक होते, तो अच्छी तरह से काम चल सकता था। पर रमेशबाबू से इस विषय में कहते हुए अच्छा नहीं लगता। अकस्मात् उनके व्यवसाय में ३ लाख का घाटा आ गया है। एक वर्ष तक वे रुपए-पैसे की कुछ सहायता न दे सकने की बात परसों कह ही चुके हैं। इस दशा में उनसे कुछ सहायता पाने की आशा व्यर्थ है। अच्छा कोई चिंता नहीं है. रुपए-पैसे का प्रबंध भी कर लूँगा। यह समय मेरी परीक्षा का है। यदि मैं कुछ कर्तव्य दिखला सका, तो रमेशबाबू तथा सकसेनाजी भी मेरी शक्ति का परिचय पा जायँगे।

शर्माजी यह सोच ही रहे थे कि चपरासी ने आकर सूचना दी कि प्रेस-फ़ोरमैन आपसे मिलना चाहते हैं।"

शर्माजी—"अच्छा आने दो।"

फ़ोरमैन—"प्रणाम।'

शर्माजी—"कहिए, क्या बात है?"

फ़ोरमैन—मैं आपसे कुछ निवेदन करनी चाहता हूँ।"

शर्माजी—"कहिए भी। आप तो भूमिका में २-४ मिनट ख़राब कर डालते हैं।"

फ़ोरमैन—"कल सायंकाल, कार्यालय से आपके चले जाने के अनंतर, बी० के० पाल के यहाँ का आदमी काग़ज़ का रुपया लेने आया था। आज भी वह ३ बजे आएगा। मैनेजर कल नहीं आए थे। कल 'भारती' के लिये आप जो मैटर दे गए थे, वह कम पड़ गया है। अभी ३ पृष्ठ का मैटर आपको और देना पड़ेगा।"

शर्माजी ने घड़ी की ओर देखा, तो ११ बजा था। बोले—"अच्छा २ बजे आदमी भेज देना, मैटर दे दूँगा। इसके भीतर किसी आदमी के यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। मैनेजर को यहाँ

भेज दीजिए। बस और तो कोई काम नहीं है? और हाँ, भारती-विभाग के कंपोज़ीटरों के हाथ में इस समय क्या काम है?

फ़ोरमैन—"इस समय तो करेक्शन हो रहा है। २ बजे के लगभग ही मैटर की आवश्यकता पड़ेगी।"

शर्माजी—"अच्छा, तब ठीक है। उस समय तक तैयार हो जायगा।" फ़ोरमैन के जाने के अनंतर मैनेजर मि० गुप्ता आ गए। शर्माजी बोले—"आइए, बैठिए। कहिए, आजकल संपादन-विभाग को छोड़कर भारती-प्रेस तथा कार्यालय का मासिक व्यय कितना है?

मैनेजर"१०००) के लगभग होगा।"

शर्माजी—"आय कितनी होगी? कुछ वृद्धि की आशा है?"

मैनेजर—"पिछले छः महीनों में केवल ४० नए ग्राहक बने थे जिसके २००] आए थे, जो भारती-खाते में जमा हैं। एक मास के पश्चात् नया वर्ष प्रारंभ होनेवाला है। इधर सकसेना जी के चले जाने के पश्चात्, ग्राहक-संख्या कुछ अधिक बढ़ी है। यह प्रसन्नता की बात है। विज्ञापन के रेट बढ़ाने की आवश्यकता है। भारती का विज्ञापनी रेट सब पत्र-पत्रिकाओं से कम है। ग्राहक-संख्या की दृष्टि से विज्ञापन का रेट, अन्य पत्र-पत्रिकाओं के रेट्स देखते हुए, वर्तमान रेट का सवाया किया जा सकता है।"

शर्माजी मैनेजर की इन बातों को सुनकर मन-ही-मन कहने लगे—"रमेशबाबू पर यदि इस समय आर्थिक विपत्ति का पहाड़ न फट पड़ा होता, तो इस समय, मेरे संपादन-काल में, भारती का जीवन सुधर सकता था। मुझे यदि इस समय दो अच्छे सहकारी मिल जाते, तो क्या बात थी! ख़ैर। अब भी यदि ईश्वर की कृपा से समय की अनुकूलता ने मेरा साथ दिया, तो कुछ करके दिखला सकूँगा। मैनेजर से कहने लगे—"अच्छा आज शाम को कृपा करके रोकड़-बही, खाता-बही आदि

काग़ज़ात मेरे पास भिजवा दीजिए। मैं उन्हें देखूँगा। विज्ञापन-दाताओं के रेट बढ़ाने की अभी आवश्यकता नहीं है। हाँ, एक काम आप कर सकते हैं, वह यह कि स्थायी और संपत्तिशाली विज्ञापन-दाताओं से पत्र-व्यवहार कीजिए। उनको लिखिए कि नए वर्ष के प्रारंभ से भारती के विज्ञापन के रेट २०% बढ़ा दिए जाएँगे। परंतु आप अभी से यदि साल-भर के लिये विज्ञापन का स्थान अपने लिये रिज़र्व करा लेंगे, तो आपसे वही ले लिया जायगा, जो आप इस समय देते हैं। ऐसा करने से आगामी वर्ष आपका विज्ञापन स्थायी रूप से प्रकाशित हुआ करेगा। इसके अतिरिक्त यदि आप वर्ष-भर का विज्ञापन का चार्ज पेशगी भेज देंगे, तो हम आपके साथ पाँच प्रतिशत ५% कम ले लेने की विशेष रिआयत भी करेंगे।

भारती का टाइप भी अब घिस गया है। उसे बदलने की भी आवश्यकता है। नए वर्ष से बिलकुल नया टाइप लगाना होगा। इस आशय की एक सूचना भी निकाल दीजिए। संपादकीय स्तंभों में नया टाइप अभी से लगाना प्रारंभ कर दिया जाता, तो ठीक होता। तैयार मिले, तो थोड़ा अभी मँगवा लीजिए, जिससे अगले अंक से ही संपादकीय स्तंभ नए टाइप में निकलने लगें।

देखिए, गुप्ता बाबू, यह समय हम लोगों के लिये बड़े उत्तरदायित्व का है। आपको ज्ञात ही है कि रमेशबाबू पर आर्थिक संकट है। रुपए-पैसे का उत्तरदायित्व भी हमीं पर है। किसी प्रकार ऐसी युक्तियों से काम लीजिए कि भारती की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाय। यदि हम लोग इस वर्ष अच्छा कार्य करके दिखला सके, तो निकट भविष्य बड़ा लाभप्रद सिद्ध होगा।

मैनेजर—"आपके आदेशानुसार कार्य करने की मैं पूरी चेष्टा करूँगा। कृपया इसी प्रकार कार्य का निर्देश करते रहिए।"

मैनेजर यह कहकर आफ़िस में आ गए और शर्माजी भारती के लिये मैटर तैयार करने लगे ।

(४)

आज कलकत्ता-नगर में 'भारती'-संवाद-पत्र की धूम है। संवाद-पत्र बेचने वाले प्रातः काल ७ बजे से ही सड़कों के मुख्य-मुख्य चौराहों पर भारती की पुकार मचाते हुए डट जाते हैं। भारती की स्थानिक बिक्री १० हज़ार तक पहुँच गई है । सकसेनाजी के पेट में चूहे कूद रहे हैं। उन्होंने रमेश बाबू को इस आशय के कई पत्र लिखे कि "भारती का संपादन आजकल बहुत गंदा हो रहा है। गंभीर लेखों के स्थान पर जनता को भड़काने वाले सार-हीन लेख बहुत निकल रहे हैं। मुझे तो अवकाश नहीं है, बच्चू की मा की तबियत अभी नहीं सुधरी है। आप पत्र की नीति सम्हालिए, उसकी रक्षा कीजिए। अन्यथा जनता में उसका सम्मान घट जायगा।" इधर रमेशबाबू को उनके इन पत्रों पर आश्चर्य हो रहा है; क्योंकि उनके यहाँ उनके मित्रों के जो दर्जनों पत्र आए हैं, उनमें भारती के संपादन की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि, क्या नगर और क्या बाहर, भारती की लोक-प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ रही है । रमेशबाबू ने सकसेनाजी के इन पत्रों का कोई उत्तर नहीं दिया ।

आज रविवार का दिन है। भारती-कार्यालय यद्यपि बंद है; तथापि संपादकीय विभाग खोले हुए शर्माजी कुछ लिख रहे हैं। चपरासी ने कहा—"दो मारवाड़ी आपसे मिलने आए हैं। बड़ा आवश्यक काम बतला रहे हैं।"

शर्माजी—"अच्छा आने दो ।"

तुरंत दो मारवाड़ी शर्माजी के सामने उपस्थित हुए। शर्माजी ने उनके प्रणाम के उत्तर में आशीर्वाद देते हुए कहा—"आइए, बैठिए, गाडोदियाजी, कहिए आज कैसे पधारे?"

गाडोदियाजी—"आपने मुझे कैसे पहचाना?"

शर्माजी—"लगभग डेढ़ वर्ष की बात है, कुछ सोना बेचने के लिये निजी कार्य-वश आपके दर्शन करने पड़े थे। आप तो मुझे भूल ही गए।"

गाडोदियाजी— 'हाँ, अब ख़्याल आ गया। आपतो जीविका के फेर में पड़कर दलाली करने के लिये कुछ दिनों बड़े बाजार में घूम चुके हैं। आप तो हमारे साथी हैं। पर आजकल तो आप संपादक हो गए हैं। आजकल आपका पत्र बाज़ार में ख़ूब चल रहा है।"

शर्माजी—"सब आप लोगों की कृपा है। कहिए, क्या आज्ञा है?"

गाडोदियाजी—"आज हम और इन पाटोदिया महाशय में ५०००) की बाज़ी लगी है। इनका कथन है कि २७ मई को सोने का भाव बढ़ा है, और मैं कहता हूँ, २६ को ही बढ़ गया था। उस दिन सायंकाल को जो पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह भाव प्रकाशित हुआ है।"

शर्माजी ने मुसकिराते हुए कहा—"मैं आपको अभी भारती और साथ ही इंगलिशमैन, स्टेट्समैन, वसुमती तथा बंगाली के २६-२७ के अंक दिखलाकर मामले का निर्णय कर दूंगा। पर एक शर्त मेरी भी है। वह यह कि अंततः भारती भी जनता का, आप लोगों का, ही पत्र है। उसके संचालन में रमेश बाबू अब तक घाटा ही उठाते आए है। इसलिये इस मामले में भारती का भी कुछ स्वार्थ-साधन होना चाहिए।

पाटोदियाजी—"आप जो बतलाइए, मैं उसके लिये तैयार हूँ।"

गाडोदियाजी—"मैं भी सहर्ष तैयार हूँ।"

शर्माजी—"तो जिन महाशय की इस मामले में विजय होगी, उन्हें अपने लाभ का पाँचवाँ भाग भारती को देना पड़ेगा।"

दोनों मारवाड़ियों ने मिलकर कहा—"स्वीकार है।"

शर्माजी एक दूसरे कमरे में निकल आए। इस कमरे में सभी संवादपत्रों की फ़ाइलें टँगी हुई थीं। नगर के दो-तीन मुख्य-मुख्य पत्र तथा भारती का २६-२७ मई का अंक निकाल कर उन्होंने दोनों मारवाड़ियों के सामने रख दिया। वास्तव में २६ मई को ही सोने का भाव बढ़ गया था। गाडोदियाजी की विजय हुई। उन्होंने कहा—"अच्छा, इसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। आज सायंकाल १०००) का चेक आपके पास आ जायगा।"

चलते हुए गाडोदियाजी ने शर्माजी की ओर देखकर मुसकिरा दिया।

[४]

सकसेनाजी की ६ मास की छुट्टी समाप्त हो चुकी थी। उन्होंने ४ मास की छुट्टी और बढ़ा ली थी। इस समय उन्हें रुपए की भी आवश्यकता थी। वे रमेशबाबू को इस विषय में कुछ लिखना नहीं चाहते थे। एक जगह से क़र्ज़ लेने का उद्योग कर रहे थे।

सोमवार का दिन था। जिस महाजन से ऋण लेने की बातचीत हो रही थी, उसने ऋण देना तो स्वीकार कर लिया था, पर उसका कथन था कि ऋण जायदाद पर मिलता है। आप या तो जायदाद पर ऋण लीजिये या अपने आभूषणों को किसी बैंक में जमा कर दीजिए, मैं उसके आधार पर आपको रुपया दे दूंगा। सकसेनाजी दोनों में असमर्थ थे। उनके जीवन में यह पहली निराशा थी। उन्हें भारती में पहले

१००) मासिक वेतन पर स० संपादक की जगह मिली थी। अब बढ़ते-बढ़ते वेतन २००) हो गया था। रमेश बाबू का ज़माना आर्थिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा था, अतः आवश्यकतानुसार उन्हें रुपए मिल जाते थे। धर्म-पत्नी की आकस्मिक अस्वस्थता ने ही उन्हें इस समय इतना विवश और व्यथित बना दिया था। इस समय उनकी दशा किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उन्होंने ठंडी साँस भरते हुए कहा—"रुपए का तो प्रबंध नहीं हुआ। अब क्या किया जाय!"

मालती [उनकी सहधर्मिणी] ने कहा—"किया क्या जायगा? मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि डाक्टरों के फेर में न पड़ो। ये हमारी बँधी हुई गृहस्थी को चाट जायँगे! अंत में वही बात सामने आ रही है। यदि किसी अच्छे वैद्य की दवा नियम-पूर्वक की गई होती, तो संभव था, मैं अब तक स्वस्थ भी हो गई होती, और आज दिन जिस अर्थ-कष्ट का सामना करना पड़ रहा है, वह भी न होता। इससे तो मैं गाँव में ही अच्छी थी। यहां [कानपुर] आकर ४००] रुपयों पर पानी फेरने के अतिरिक्त और क्या हुआ है।

सकसेनाजी यद्यपि मन-ही-मन यह स्वीकार कर रहे थे कि वास्तव में यहाँ आकर अपव्यय के अतिरिक्त और कोई बात नहीं हुई है, मालती का कथन अक्षरशः सत्य है; पर उन्हें इस बात पर आश्चर्य हो रहा था कि मेरे संस्कारों में डाक्टरी चिकित्सा के प्रति इतनी भक्ति; और मालती के संस्कारों में इसके प्रति इतनी अभक्ति क्यों है? रमेश बाबू को कई पत्र लिखे; एक का भी उत्तर नहीं आया। अंतिम पत्र में आर्थिक कठिनाइयों का भी उल्लेख किया था। आशा थी, रमेश बाबू इस पत्र के पाते ही कुछ रुपया अवश्य भेज देंगे। पर उन्होंने इस पत्र का भी कोई उत्तर नहीं दिया। कदाचित् शर्माजी ने रमेश बाबू का भाव मेरे प्रति बुरा कर दिया है। इन महाशय से मुझे पहले ही भय था कि एक समय

ऐसा आयगा; जब ये हमारे स्थान पर कार्य करते हुए मूँछों पर ताव देंगे, और मुझे अपनी जीविका के लिये भी चिंता करनी पड़ेगी। इतना डाँटा, इतना फटकारा, परंतु फिर भी उसका आसन न डिगा--न डिगा आदमी चलता-पुरज़ा है। जो कुछ न कर दिखाए, थोड़ा है। ऐसी दशा में मुझे भारती छोड़कर न आना चाहिए था। जो ग़लती की है, उसका प्रायश्चित्त तो करना ही पड़ेगा। इस समय यदि ५००] भी और मिल जाते, तो काम चल जाता। किसी वैद्यवर महाशय की ही दवा की जाती संभव है, वैद्य इसे शीघ्र अच्छा कर सके, क्योंकि आयुर्वेद की चिकित्सा में इसे विश्वास भी है। जिस चिकित्सा में विश्वास होता है, उसका प्रभाव भी रोगी पर अच्छा पड़ता है। परंतु........। हा! भगवन्...।

सकसेनाजी यह सोच ही रहे थे कि पोस्टमैन ने पुकारा। सकसेनाजी ने अपने कमरे में आकर देखा कि पोस्टमैन एक रजिस्टर्ड कवर लिए हुए खड़ा है। रजिस्टरी लेकर उन्होंने उसे खोला, तो ६००) रुपए का इलाहाबाद बैंक का चेक देखकर उनका हृदय आनंद से फूल उठा! यद्यपि चेक पर हस्ताक्षर शर्माजी के थे। यह नई बात थी। फिर भी उन्हें भूलकर वे रमेश बाबू की प्रशंसा कर रहे थे—पत्र-प्रकाशक हो तो ऐसा हो!

(६)

सकसेनाजी अपनी छुट्टी समाप्त करके आज ही कलकत्ते आए हैं। मालती अब स्वस्थ है। रमेश बाबू से मिलने के लिये उनके यहाँ जाते हुए उन्होंने देखा कि आजकल बाज़ार में भारती-पत्र का अच्छा सम्मान है। चौराहों पर उसकी अच्छी बिक्री हो रही है। शर्माजी की कार्य-कुशलता रह-रहकर उनके हृदय में शूलसी उत्पन्न कर देती थी। रमेश बाबू की स्थिति का उन्हें ज्ञान न था। उनकी कृपाओं की कृतज्ञता से वे भरपूर दबे हुए थे।

रमेश बाबू सकसेनाजी के हृदय की कमज़ोरी से कुछ-कुछ परिचित हो गए थे। उन्होंने इसीलिये उनके दो पत्रों का उत्तर भी न दिया था। तीसरे पत्र को तो दुर्भाग्य से उन्होंने खोला तक न था। अनुमान यही था कि इसमें भी वही बातें होंगी, जो पिछले पत्रों में थीं। इसके अतिरिक्त उन पत्रों का उत्तर न देने का उलहाना होगा। परंतु इस पत्र के न खोलने का केवल यही कारण न था, यह पत्र उन्होंने फ़ुरसत में, शांति के साथ, पढ़ने के लिये एसे स्थान पर रख दिया था, जहाँ रख देने के पश्चात् फिर उन्हें उसका ध्यान ही न रहा। उन्होंने यह भी तै कर रक्खा था कि सकसेनाजी के आने पर इस बार उनसे खुलकर बातें करूँगा। इसी निश्चय के अनुसार सकसेनाजी के आने पर उन्होंने उनसे कहा—"सकसेनाजी, बुरा न मानिएगा, मैं समझता हूँ कि शर्माजी के विषय में आपको कुछ भ्रम हो गया है। उनके आते-आते ही, उनके विषय में आपने कोई एक धारणा-सी बना रक्खी है, और उसीसे प्रेरित होकर कभी-कभी आपके द्वारा ऐसे भावों का प्रदर्शन होता है, जो एक साहित्य-सेवी के लिये शोभा नहीं देते। मेरा इशारा आपके उन पत्रों की ओर है, जो आपने छुट्टी के दिनों में मुझे लिखे थे, और जिनका जान-बूझकर मैंने कोई उत्तर न दिया था। आपका एक और भी पत्र आया था। दुर्भाग्य से उसे खोलने का मुझे न तो अवसर ही मिला, और न साधारण रूप से खोजने पर वह पुनः मुझे मिला ही। मैंने उसे शांति के साथ खोलकर पढ़ने के विचार से कहीं रख दिया था।"

सकसेनाजी ने कहा—"आप हमारे अंतिम पत्र की तो बात नहीं कह रहे हैं?"

रमेश बाबू—"हाँ, उस पत्र के बाद आपका कोई पत्र मुझे नहीं मिला।"

सकसेनाजी ने साश्चर्य होकर कहा—"इन सब बातों पर पुनः विचार करने के लिये मुझे आप आज के लिये और अवसर दीजिए। इस समय मेरा जी न-जाने कैसा हो रहा है। मैं सायंकाल आपसे पुनः मिलूँगा।

❀ ❀ ❀

सकसेनाजी के विशेष कमरे में ज्यों ही शर्माजी आए, वे प्रेम से गद्गद हो, शर्माजी से लिपट गए। अश्रुओं से शर्माजी का कुरता भीगने लगा। शर्माजी आश्चर्य-चकित थे—कुछ भी उनकी समझ में न आ रहा था। जब जी कुछ शांत हुआ, तो सकसेनाजी बोले—"आज मेरा भ्रम दूर हो गया। शर्माजी, सचमुच आप देवता हैं। इस गए-बीते युग में भी ब्राह्मण-जाति में आप जैसे ईर्षा-द्वेष-हीन, निष्कपट और कर्तव्य-परायण व्यक्ति हैं, इसका मुझे आज ही अनुभव हुआ। सच कहता हूँ, जिस सहधर्मिणी को स्वस्थ देखकर आज मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ, यदि पिछले दिनों रुपए भेजकर आपने मुझे सहायता न पहुँचाई होती, तो वह आज इस संसार में होती, इसमें संदेह है। भारती का संपादन आपने मेरी अनुपस्थिति में जिस प्रकार सुचारु रूप से इन परिस्थियों में, किया है, उस प्रकार मैं भी न कर सकता। इस सफलता के लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। आपने जिन युक्तियों से काम लेकर पत्र का संचालन और संपादन किया है, उनकी ओर मेरा ध्यान था; पर मैं उनको कार्य-रूप में परिणत न कर सका था। आपने वह सब करके दिखा दिया। आपने किस तरह क्या किया है, वह सब मुझे मैनेजर से ज्ञात हो गया है। मुझे कुछ बताने की आवश्यकता नहीं है। अंत में मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।"

शर्माजी—"आपने मेरी जो यह सब प्रशंसा की है, यह आपकी उदारता है। पर मैं अब तक यह नहीं समझ सका हूँ कि ऐसी कौन-सी

गई बात है जिसके लिये क्षमा माँगकर आप मुझे लज्जित कर रहे हैं।"

सकसेनाजी—"शर्माजी, सच जानिए, मेरे हृदय में आपके प्रति ईर्षा-द्वेष के कलुषित भाव थे। आपकी सज्जनता ने ही मेरे उन भावों पर विजय पाई है। चेक प्राप्त होने पर मैंने रमेश बाबू की सहृदता-पूर्ण उदारता की मन-ही-मन बहुत सराहना की थी। उस समय भी मुझे यह ज्ञात न हुआ था कि यह सब आपकी ही सज्जनता का फल है।"

शर्माजी—"वह तो आपकी छुट्टी का अर्धवेतन-मात्र था। उसका शेषांश मैं आज अभी आपको दूँगा। यद्यपि भारती की आर्थिक स्थिति अब भी अच्छी नहीं है, तथापि मैंने इसे आवश्यक समझा। सौभाग्य से १०००) की एक रक़म भी, एक युक्ति से, योंही आ गई थी। मैनेजर से आपको ज्ञात ही हुआ होगा।।" शर्माजी ने यह कहते हुए ४००) के नोट सकसेना जी के सामने रख दिए।

सकसेनाजी की आँखों में अब भी आँसू थे। उन्होंने कहा—"इस के लिये मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।"

इस समय इन दो संपादकों के हृदयों में प्रसन्नता के वे भाव थे जो न लिखे जा सकते हैं, न कहे जा सकते हैं—अनुभव करने से ही उनकी महत्ता प्रतीत होती है।

अमूल्य भेंट

(१)

शारदाप्रसाद कौल का कॉलिजिएट–जीवन प्रारंभ हुए तीन वर्ष हो गए। अब उनमें स्कूल-जीवन का-सा वह छिल्लड़पन न रहा, जो विद्यार्थियों में, अपरिपक्व यौवनावस्था में, प्रायः हुआ करता है। साथ के विद्यार्थियों में हँसी-मज़ाक होता था, परंतु अब उसमें वह पहले की-सी अशिष्टता न होती थी। यह सब कुछ था, परंतु शारदा की प्रेम-पिपासा में बिल्कुल अंतर न आया था। ३ बजे के बाद मकान पर जी न लगता। पुस्तकें घर पर ज्यों-की-त्यों छोड़कर मोहन बाबू के यहाँ जा डटते। मोहन बाबू के बैठकख़ाने में गान-वाद्य-प्रेमियों का गमनागमन बना ही रहता था। वे गाना सुनने के बड़े शौक़ीन थे। एक गाँव, जिसकी आमदनी २२००) सालाना थी, इन अतिथियों के स्वागतार्थ ही लगा रक्खा था। शारदा का गला बड़ा सुरीला था। वह जिस समय गाने बैठता, सुनने वाले अवाक रह जाते। अच्छे-अच्छे गवैए उसकी गलेबाजी पर आश्चर्य करते। इन दिनों अवध के गवैयों में चंद्रकिशोर का बड़ा नाम था। मोहन बाबू को उनका गाना सुनने की बड़ी अभिलाषा थी। उन्होंने श्रीचंद्रकिशोर को कई बार बुलाया था, पर दुर्भाग्य से जिन दिनों उनका पत्र उनके यहाँ पहुँचता, वे घर से बाहर होते। इस बार मोहन बाबू ने उनको बुलाने के लिये आदमी भेजा था। आज ही उनके आने का दिन था।

इस समय मोहन बाबू के बैठकख़ाने में बड़ी भीड़ लगी थी। नगर के सैकड़ों लोग उनका गाना सुनने के लिये टूट पड़े थे। बहुतों को बैठने

के लिये उचित स्थान न मिला, तो वे खड़े ही रहे। चंद्रकिशोर का गाना सुन, लोग मस्त हो उठे। सबने मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की। मोहन बाबू ने प्रसन्न होकर ज़री के काम का ५००) का एक सुंदर दुशाला उनको भेंट किया।

शारदा बाबू भी चंद्रकिशोर के पास ही बैठे-बैठे यह सब देख रहे थे। उनकी हृदय से इच्छा थी कि मैं भी एक गीत गाऊँ और अपने गाने के संबंध में बुरे-भले, जैसे भी शब्द हों, सुनूँ। नगरवालों में किसी में इतना साहस न था कि श्रीचंद्रकिशोर का गाना सुनने के बाद फिर वे शारदा बाबू से गाना गाने के लिये कहते। कारण, इसमें नवागंतुक अतिथि की परोक्ष-रूप से अप्रतिष्ठा होती थी। पर जौहरी के आगे जवाहर कभी छिप नहीं सकता। न तो जवाहर अपना रंग दिखाने में कभी चूक सकता है, और न जौहरी उसे परखने में। चंद्रकिशोर ने शारदा बाबू को पहचान लिया। बोले—"महाशय, आप भी तो गाते हैं, सुनाइए न कोई चीज़?"

शारदा—"नहीं पंडितजी, गाना-वाना तो मैं कुछ जानता नहीं। हाँ, सीखने की कुछ इच्छा अवश्य है। सो आप-जैसे गान-विद्या-निष्णात महापुरुषों की चरण-सेवा नसीब नहीं।"

चंद्रकिशोर—"यह आप क्या कहते हैं! हम किस योग्य हैं? जो सेवा हमसे हो सकती है, उसके लिये हम तैयार हैं। अच्छा, इस विषय में फिर बातचीत करूँगा। इस समय कुछ सुनाइए।"

शारदा—"कुछ आता भी हो, तब तो सुनाऊँ।"

चंद्रकिशोर—"इन बातों से काम न चलेगा। आपको कोई-न कोई चीज़ अवश्य सुनानी पड़ेगी।"

शारदा—"आप तो विवश करते हैं।"

चंद्रकिशोर—"मालूम होता है, आप शरमाते हैं। अगर यही बात है, तो आप ग़लती करते हैं। संकोच उठाकर ताक़ में रख दीजिए, और जल्दी शुरू कीजिए। इन बातों से काम न चलेगा।"

प्रकट रूप में विवश होकर शारदाप्रसाद को गाना ही पड़ा। पर वास्तव में यह विवशता न थी। उनकी तो यह आंतरिक अभिलाषा ही थी। प्रायः आग्रह के उत्तर में "न" कह देना भी परोक्ष रूप से उस आग्रह की स्वीकृति करना होता है।

शारदा ने गाना गाया। चंद्रकिशोर ने शारदा का गाना बहुत पसंद किया, और कहा—"अगर आप थोड़ा और अभ्यास कर लें, तो बहुत ही अच्छा गाने लगेंगे। कसर अभ्यास की ही है, आपको कुछ सीखना नहीं है।"

गायन-सभा विसर्जित हो गई। लोग अपने-अपने घर चले गए। मोहिनी छत पर बैठे-बैठे ये समस्त बातें सुन रही थी। उसने चंद्रकिशोर और शारदा का गाना भी सुना था। एकाएक उसके मन में यह बात आई कि चंद्रकिशोर को अपने गाने के उपलक्ष्य में ४००) का दुशाला भेंट किया गया; पर हमारे शारदा बाबू को कुछ न मिला। यह अच्छा नहीं हुआ। अच्छा, उन्हें किसी ने कुछ नहीं दिया, तो न सही। मैं ही उनको कुछ भेंट करूँगी।

शारदा बाबू लौटकर हॉस्टल जा रहे थे, मोहिनी कमरे की ओर दृष्टि लगाए हुए थी। शारदा का मुख सामने हो गया। मोहिनी ने उनकी ओर देखकर मुसकिरा दिया।

[२]

मोहिनी की अवस्था इस समय १४ वर्ष की थी। नवीन यौवन की लहरें उसके शरीर से लेकर हृदय-तंत्री तक लहराने लगी थी। वह

नहीं जानती थी—प्रेम क्या है? परंतु यह अवश्य सोचा करती थी कि शायद प्रेम भी मादक द्रव्यों की भाँति ही कोई वस्तु न होकर कोई विकार होगा। जो हो, मोहिनी शारदा को देखकर प्रसन्न होती थी, आँखें सामने तो न होती थीं, पर शारदा बाबू जब मकान से जाने लगते; तो जहाँ तक दृष्टि काम देती, वह उनकी ओर देखा करती थी। आने का समय होता, तो जिस ओर से वे आया करते, खिड़की से उसी ओर टकटकी लगाए देखा करती। पर ज्यों ही वह शारदा को आता हुआ देखती, शरम के मारे उधर से आँखें फेर लेती, और पुस्तक देखने लगती थी। कई बार तो शारदा बाबू ने आते हुए उसे, अपनी ओर देखते हुए, देख भी लिया था।

अब शारदा बाबू बड़े सरल स्वभाव के हो गए थे। वह काश्मीरी ब्राह्मण थे। उनका निवास-स्थान आगरा-प्रांत में था। यहाँ इस समय वे क्राइस्ट चर्च कॉलेज में चौथे वर्ष की श्रेणी में पढ़ते थे।

मोहन बाबू नवीन विचारों के पुरुष थे और स्त्री-शिक्षा के प्रबल पक्षपाती। इसीलिए उन्होंने अपनी बहन मोहिनी को शिक्षा-लाभ कराने में कुछ उठा न रक्खा था। मोहिनी की हिंदी-शिक्षा पूर्ण हो चुकी थी। इस समय वह शारदा बाबू से अँग्रेज़ी पढ़ा करती थी।

इन दिनों मोहिनी के विवाह की बातचीत राजगढ़ के राज-कुमार के साथ चल रही थी। शिक्षा के ये ही अंतिम दिन थे। मोहन बाबू ने विचार किया कि शारदा की बी० ए० की परीक्षा समाप्त होते ही, वह मकान चला जायगा; और उस समय मोहिनी की शिक्षा अपने आप बंद हो जायगी। इस समय शारदा से इस संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

पर ऐसा न हुआ। बी० ए० की परीक्षा समाप्त हुए, दो सप्ताह व्यतीत हो गए; परंतु शारदा बाबू घर न गए। घर से बुलावा

आया, तो लिख दिया—"पेपर अच्छे किए हैं, पास हो ही जाऊँगा, इसलिये एम० ए० प्रीवियस की स्टडी करूँगा। घर आने पर सारा समय व्यर्थ ही जायगा।" इधर जब मोहन बाबू ने देखा कि शारदाबाबू अब भी घर नहीं गए, हालाँ कि परीक्षा समाप्त हुए दो सप्ताह से अधिक हो गए, तो उनसे एक दिन इस संबंध में पूछा—"शारदा बाबू, घर नहीं गए? कब तक जाने का विचार है?"

शारदा—"अभी तो घर जाने का विचार नहीं है। एम० ए० प्रीवियस की स्टडी में लग गया हूँ। यह भी सोचता हूँ कि मोहिनी को शेक्सपियर और पढ़ा दूँ, फिर तो आखिरकार उसका पढ़ना बंद हो ही जायगा।"

मोहन बाबू—परंतु आपको अब घर अवश्य जाना चाहिए। रही मोहिनी को पढ़ाने की बात, अब वह इतना काफ़ी पढ़ गई है कि उसका अध्ययन अब अपने आप भी चल सकता है। आपने जिस तल्लीनता के साथ उसे शिक्षा दी, उसकी हम हृदय से प्रशंसा करते हैं। शिक्षक के रूप में, अब इस घर से आपका संबंध अवश्य पृथक् होता है; परंतु फिर भी यह आपका घर है। जब कभी इधर निकलें, तो यहाँ भी आ जाया करिएगा। कल रविवार है, और आपका यह मास भी समाप्त हो जायगा। कल ही मैं आपका कुल हिसाब चुकता कर दूँगा। आशा है, आप हम पर कृपा-भाव रक्खेंगे। मोहिनी के विवाह का महूर्त इसी अष्टमी को है। विवाह के अवसर तक तो रहिएगा?"

शारदा—"अच्छा, इस विवाह के पश्चात् मैं घर हो आऊँगा। सद्व्यवहारों के लिये मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।"

शारदाबाबू अंत में नमस्कार करके चल दिए। मोहन बाबू ने उन्हें जाते हुए देखा, चेहरा उतर-सा गया था। नेत्र-कोण में अश्रु-बिंदु मोती-से

झलक रहे थे। मन में कहने लगे—"कैसा सुशील युवक है। मोहिनी को बहन-सा चाहता है। कुछ ही दिनों में इतना हिल-मिल गया कि आप इस घर से संबंध छूटते दुःखी हो गया। मानव-प्रकृति भी विचित्र है। स्नेह और प्रेम भी ईश्वर का अमूल्य आविष्कार है। परंतु क्या किया जाय, संसार यों ही चलता है। कोई किसी का सदा-सर्वदा के लिये साथी नहीं रहता।"

(३)

आज ही रविवार का वह दिन है, जब शारदा बाबू को मोहनबाबू और मोहिनी से अंतिम विदा लेनी है। मोहिनी को भी मालूम हो गया कि आज से शारदा बाबू का हिसाब चुकता कर दिया जायगा। जब से उसने अपने भ्राता मोहन बाबू के मुख से यह बात सुनी, उसके जी में उथल-पुथल मच गई। वह पढ़ने के कमरे में चली गई, और घंटों बैठी हुई सोचती विचारती रही। परसों जिस हेमलेट को पढ़कर वह प्रसन्नता से फूल उठी थी, उसी हेमलेट को बार-बार उठाकर उसके पन्ने उलटती, पर किसी प्रकार उसमें जी न लगता। समय काटे न कटता। शारदा बाबू ४ बजे आएँगे, यह सोचकर उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार की वेदना होती। ज्यों-ज्यों समय निकट आता गया, मोहिनी की मानसिक वेदना बढ़ती गई।

मनुष्य प्रेम की मूर्ति है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ मनुष्यत्व नहीं। प्रेम में मनुष्य का जीवन है, परंतु प्रेम ही में मनुष्य का मरण भी। यही प्रेम की विशेषता है। मोहिनी ने प्रेम का मूल्य आज ही अनुभव किया।

चार बज चुके थे। मोहन बाबू शारदा को विदा करने की तैयारी में थे। एकाएक मोहिनी दरवाज़े की ओर के कमरे में आई, और

मोहन बाबू को बुलाकर उनसे बोली—"भैया, अपने भावी अध्ययन के संबंध में मास्टर बाबू से कुछ बातें करनी हैं। चलते समय उन्हें आप हमारे पढ़ने के कमरे में भेज दें।"

मोहिनी की मुखाकृति से गंभीरता झलक रही थी, परन्तु शब्दों की ध्वनि में साहस, उत्कंठा और विषाद के भाव छिपे हुए कुशलता-पूर्वक अपना कार्य कर रहे थे। मोहन बाबू को मोहिनी के इस साहस पर आश्चर्य न हुआ, वरन् उन्हें उसकी इस बात ने पुलकित कर दिया। सोचने लगे—"शिक्षा का यह प्रभाव है कि जीवन का आदर्श और उद्देश्य स्वाभाविक गुणों पर भी विजय प्राप्त कर रहा है। जीवन की एक समस्या सामने आई, तो मोहिनी ने लज्जा का बाँध टूट जाने की कुछ परवाह न की। ठीक है, मैं मोहिनी को यहीं तक शिक्षा देना चाहता था।"

मोहन बाबू से निपटकर शारदा बाबू मोहिनी के पढ़नेवाले कमरे में आ गए। मोहिनी उस समय भी नीचे के कमरे की ओर देख रही थी। उसने शारदा बाबू को कमरे से निकलते और अपनी ओर आते हुए न देखा था। किसी के पैरों की आहट सुनकर जब उसने सिर उठाकर सामने की ओर देखा, तो शारदा बाबू उपस्थित थे। नेत्र चार हुए, मोहिनी ने सिर नीचा कर लिया।

मोहिनी के पास उसकी छोटी बहन भी उपस्थित थी। उसने उससे कहा—"रेवती' जा, मास्टर बाबू के लिये डब्बे में से पान लेआ।" रेवती शारदा बाबू के लिये पान लाने चली गई। ये पान मोहिनी स्वयं अपने हाथ से लगाकर रख आई थी।

मोहिनी ने शारदा बाबू से अपने अध्ययन के संबंध में कुछ आवश्यक बातचीत की, तत्पश्चात् बोली—"मास्टर बाबू, आज से आप शायद इस मकान में न आएँ। आएँ भी तो संभव है, मैं ही आपसे न मिल

सकूँ। आपकी स्वाभाविक सरलता, उदारता और सद्शिक्षा ने मुझपर वह काम किया है, जो मुझे आजन्म न भूलेगा। मालूम नहीं, आपको मेरी सुधि आए, न आए। मालूम नहीं, हम दोनो कभी मिलें या न मिलें। परंतु मैं तो यह निश्चय-पूर्वक कह सकती हूँ कि मैं आपको कभी भूल न सकूँगी। अवस्थानुसार मैं आपको अपना पता दूँगी। कभी-कभी पत्र डाल दिया कीजिएगा।"

शारदा बाबू आश्चर्य-चकित दृष्टि से मोहिनी की ओर देखतेहुए उसके साहस, प्रेम आदि विभिन्न भावनाओं से भरे हुए शब्द सुन रहे थे। तब तक रेवती ने दो पान लाकर मोहिनी को दिए। मोहिनी ने शारदा को पान देते हुए अभिवादन किया। शारदा बाबू पान लेकर चलने को उद्यत हुए और बोले—"अच्छा, तो अब मैं चलूँगा। देखें, अब कब मिलना होता हैं।" रेवती ने शारदा बाबू को एक अँगूठी देते हुए कहा—"यह अँगूठो आपको अम्मा ने उपहार में दी है।" शारदा बाबू इस समय चकित थे। बोले—"नहीं, इसकी क्या आवश्यकता थी।" मोहिनी ने कहा—"यह भेंट आपको लेनी पड़ेगी।" चलते हुए शारदा बाबू ने देखा, मोहिनी के नेत्र-द्वय से दो अश्रु-बूंद टपककर हेमलेट पर गिर पड़े।

(४)

३ वर्ष बाद की बात है।

शारदा बाबू को इंगलैंड आए हुए साल-भर हो गया। यहाँ वे डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त करने लगे। मातृ-भूमि से बिछुड़ने पर सहृदय-हृदय की कैसी अवस्था होती है, इसका उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। अपने देश में इतर-प्रांतीय बंधु पराए मालूम होते हैं, यहाँ वह भाव जाता रहा। हिंदुस्तानी वेश में जो कोई भी मिलता, वही अपना सगा

बधु-सा प्रतीत होता । उनके साथ भारत से ही और भी कई शिक्षार्थी डॉक्टरी-शिक्षा प्राप्त करने आए थे। उनसे घनिष्ट मित्रता हो गई । दूसरे-तीसरे मास मोहिनी का पत्र आता, उसे पढ़कर पूर्व, स्मृति जाग्रत हो उठती । मोहन बाबू, उनका बैठकख़ाना, उनका गान-वाद्य-मंडल, मोहिनी के पढ़ने का कमरा, उसकी सरल, मृदु, बाल-चापल्य-पूर्ण बातें,सब-की-सब समक्ष नृत्य करने लगतीं । कुछ दिन तो, उन्हें श्री-समृद्धि-संपन्न होने पर भी लंदन का निवास बनारस-जैसा सुहावना और सुख-प्रद प्रतीत न हुआ; परंतु हिंदुस्तानी मित्रों के सहवास से उनके दिन संतोष- पूर्वक कटने लगे । आते-आते मातृ-भूमि से बिछुड़ने का जो मानसिक क्लेश पैदा हुआ था, क्रमशः घटने लगा। पाँच वर्ष का कोर्स था, और अभी केवल एक ही वर्ष बीता था । धीरे-धीरे शेष चार वर्षों की अवधि भी कम होती जाती थी । और यह सोचकर संतोष होता था कि इसी प्रकार ये दिन भी कट जायँगे, और निकट भविष्य में हम फिर अपनी मातृ-भूमि में पहुँच जायँगे ।

बड़े दिन की छुट्टियों के दिन थे । साथियों के आमोद-प्रमोद-पूर्ण सहवास से ये दिन बड़े चैन से कटने लगे । आज हिंदुस्तान की डाक खुलने का दिन था । शारदा बाबू शाम की डाक की प्रतीक्षा कर रहे थे । लेटर-बाक्स देखा, तो उसमें एकाएक कई पत्र मिले । जिनमें से दो पत्र शारदा बाबू के नाम थे । एक राजगढ़ के राजकुमार श्रीनरेंद्रदेवसिंह की ओर से था, दूसरा उनकी पत्नी की ओर से । पहले में कुछ उन अँगरेज़ी पुस्तकों के भिजवाने का आग्रह था, जो इस वर्ष अँगरेज़ी-साहित्य में बहुत ही उच्च-कोटि की प्रकाशित हुई हों । साथ ही यह भी लिखा था कि यह ध्यान रक्खा जाय कि सभी ग्रंथ उपन्यास और गल्प-गुच्छ

न हों। काव्य-विषयक पुस्तकें भी हों। दूसरा पत्र इस भाँति था—

राजगढ़, शांति-निवास
(अंतःपुर)

प्रिय मास्टर बाबू,

मैं जानती हूँ, जहाँ आप हैं, वहाँ आमोद-प्रमोद और मनोरंजन-पूर्ण वस्तुओं की कमी नहीं। आपके दिन वहाँ बड़े चैन से कटते होंगे। हम लोगों की याद शायद आती भी न हो। कई पत्र डाल चुकी। जब से आप वहाँ पहुँचे हैं; आपका कोई समाचार नहीं मिला, न कोई पत्र ही। हाँ, केवल एक वही पत्र मिला था, जिसमें आपने अपना स्थायी पता लिखा था। मेरे पत्र आपके पास नहीं पहुँचते, यह मैं मान नहीं सकती। कारण, पत्र द्वारा जो वस्तुएँ (पुस्तकें आदि) मँगवाती हूँ, वे यथासंभव शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं। मालूम नहीं, आप क्या सोचते हैं ? क्यों पत्र नहीं लिखते ? तो क्या आप यही चाहते हैं कि मैं भी आपको पत्र न लिखूँ ? अच्छा न लिखूँगी ! आज से आप को कोई पत्र न लिखूँगी। यह अंतिम पत्र समझिए, एक प्रार्थना है। यदि आप स्वीकार करें, तो कहूँ। आशा है, अवश्य स्वीकार करेंगे। वह प्रार्थना यही है कि लौटते समय, जब आप अपनी जन्म-भूमि को आवें, तो एक बार—केवल एक बार—दर्शन देते जायँ।

आपकी
सोहिनी

शारदा बाबू ने पत्र पढ़ा, तो उनकी देह में बिजली-सी दौड़ गई। स्पंदन तीव्र-गति से होने लगा। एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए उनके मुख से निकल पड़ा—"अच्छा !"

निकट ही कई भारतीय मित्र बैठे थे। शारदा बाबू को दीर्घ निश्वास छोड़ते देख, वे उनकी भाव-भंगी का अनुभव करने लगे।

वे आपस में कहने लगे—"मालूम होता है, इस पत्र में कोई ऐसी बात है, जिसे पढ़कर शारदा बाबू ने किसी विशेष प्रकार की मानसिक पीड़ा का अनुभव किया है। फिर शारदा बाबू से बोले—"शारदा बाबू, क्या हम लोग भी इस पत्र की बातें सुन सकते हैं ?"

शारदा—"नहीं, बहुत प्राइवेट है।"

माना प्रेम एक प्रकार की वासना है। परंतु क्या यह वासना मानव-प्रकृति से भिन्न किंवा ग्रहणीय नहीं है ? क्या मनुष्य इस वासना के वश में होकर किसी ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन करता है ? भूल कुछ मनुष्यों से हो सकती है, और यदि बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया जाय, तो यह भी माना जा सकता है कि शत-शत सहस्र-सहस्र मनुष्यों से हो सकती है। परंतु क्या समस्त संसार भूल कर रहा है ? सभ्य जगत् में बहुमत का ढिंढोरा पीटा जा रहा है, तो भी क्या यह प्रेम-वासना, जिसमें समस्त विश्व जकड़ा हुआ है, अपराध ही ठहरेगी ? सदियों से मानव-समाज जो अपराध करता आ रहा है, क्या वह सदैव अपराध ही ठहरता जायगा ? नहीं,……।"

इसी प्रकार के विचारों से शारदा बाबू के मन-मानस में द्वंद-युद्ध-सा होने लगा।

[४]

शारदा बाबू का अध्ययन-काल समाप्त हो गया। एलोपैथिक और होमियोपैथिक दोनो प्रकार की शिक्षा पूर्ण कर वे भारत रवाना हो गए। बंबई पहुँचते ही उन्होंने सीधे राजगढ़ की ओर प्रस्थान किया। दूसरे ही दिन उन्होंने शांति-निवास में प्रवेश किया।

शांति-निवास काफ़ी विशाल और सुंदर था। भीतरी चौक में राजा साहब का अंतःपुर था, बाहरी चौक में अतिथि-शाला और राजा साहब के निजी आमोद-प्रमोद के बैठकख़ाने थे। शारदा बाबू ने

बाहरी चौक में पैर रक्खा ही था कि भीतरी चौक से कराहने का शब्द सुनकर, मानो उनके कलेजे पर साँप लोट गया। पूछा—"यह कराहने का शब्द किसका है? क्या किसी की तबीयित ख़राब है?" उपस्थित व्यक्तियों में से एक ने उत्तर दिया—"कोई बीस दिन हुए होंगे, रानी जी की बाईं रान के नीचे दर्द शुरू हुआ था। कई डॉक्टरों की दवा हुई, परंतु दर्द कम न हुआ। कल डॉक्टर कौशल आए थे। वे बताते हैं; यह भीतरी फोड़ा है। बिना ऑपरेशन के अच्छा न होगा।"

राजा नरेंद्रदेव भी आ उपस्थित हुए। प्रारंभिक मिलन की शिष्टाचार-पूर्ण बातें समाप्त होने पर उन्होंने कहा—"आप बड़े मौक़े से आए। आज २० दिन से घर में तबियत परेशान है। उसके एक फोड़ा उठा है। कई डॉक्टरों का इलाज हो चुका, परंतु फोड़ा बैठना दूर रहा, बढ़ता ही गया। कल डॉक्टर कौशल को बुलाकर दिखाया। उनका कहना है, यह बिना आपरेशन अच्छा न होगा। हमसे एकांत में उन्होंने यह भी कहा कि फोड़ा बड़ा ख़तरनाक है। आपसे हमारा कभी साक्षात् परिचय तो नहीं हुआ, परंतु "वीणा" में मैंने आपके कई लेख पढ़े हैं। उनसे आपकी प्रकृति का अच्छा परिचय मिला। यदा कदा गृहिणी से भी आपके संबंध में बातें होती रहती हैं। मैं आपको अपना ही समझता हूँ। बताइए, क्या करूँ? ऑपरेशन से मेरी तबियत घबड़ाती है। चलिए, पहले हालत देख लीजिए।"

शारदा बाबू ने मोहिनी की स्थिति देखकर राजा नरेंद्रदेव को उचित सांत्वना देते हुए कहा—"ऑपरेशन की आवश्यकता न पड़ेगी। मैं होमियोपैथिक चिकित्सा से बिना ऑपरेशन किए ही इसे अच्छा कर दूँगा। आप घबराएँ नहीं। मोहिनी आपके हाथ से जानेवाली नहीं!"

शारदा बाबू मोहिनी को देखने गए, तो उन्हें देखकर मोहिनी रोने लगी। वह बोले—"रोती व्यर्थ हो। मुझे सौभाग्य से ईश्वर ने

तुम्हें अच्छा करने के लिये ही भेजा है। तकलीफ़ सिर्फ़ आज दिन-भर की है, रात को तुम ख़ूब आनंद से सोओगी। काफ़ी नींद आएगी।" मोहिनी ने कुछ उत्तर न दिया—वह रोती ही रही। शारदा बाबू पुनः बोले—"नरेंद्र बाबू, आप इसे समझा दें। मुझसे तो इसका रोना सुनकर यहाँ खड़ा भी नहीं रहा जाता। इतना कहकर वे बाहर की ओर चले आए। नरेंद्र बाबू ने उनके ठहरने के लिये यथोचित प्रबंध कर दिया।

[६]

शारदा बाबू १५ दिन तक राजगढ़ ठहरे। जैसा वादा किया था, उसी के अनुसार मोहिनी को उन्होंने अपनी चिकित्सा से बिलकुल चंगा कर दिया। नरेंद्र बाबू उनकी चिकित्सा से परम संतुष्ट रहे। १६ वें दिन शारद बाबू ने उनसे घर जाने की अनुमति माँगी। नरेंद्र बाबू उन्हें विदा करते हुए एक-एक सहस्र के दो नोट भेंट करने लगे, और बोले—"मैं आपका चिर कृतज्ञ हूँ। आपने चिकित्सा नहीं की, जीवन दान दिया है। ये तो आपकी चिकित्सा के निछावर हैं।"

शारदा बाबू ने नोट वापस करते हुए कहा—"ये२०००) आप अपने राज्य के ग़रीब किसानों में बाँट दीजिए। ये रुपए देकर आप मुझे अपने से पृथक् कर रहे हैं। यह ठीक नहीं। आपने तो उस दिन कहा था—"आप [अर्थात मैं] अपने हैं। आज यह भाव कैसा ?"

नरेंद्र—"तो क्या हुआ ? मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिए। ईश्वर के अनुग्रह से मेरी स्टेट के किसान सुखी हैं। फिर भी अगर यही बात है, तो मैं इस वर्ष एक फ़सल की आमदनी उनसे न लूँगा। कहिए, अब तो आप प्रसन्न है ? अब तो आप मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिए।"

शारदा—"आपकी इस उदारता की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। अब आप रुपए लेने के लिए विशेष आग्रह न करें। यह असंभव है कि मैं आपसे कुछ भी लूँ।"

मोहिनी ने कहा—"आपने उनकी भेंट स्वीकार नहीं की, यह अच्छा नहीं हुआ। अब मेरी बात तो न टालिए। यह हार अभी नया ही आया है, मैं इसे आपकी श्रीमती के लिये उपहार-स्वरूप देती हूँ। आशा है, आप इसे अवश्य स्वीकार करेंगे।"

मोहिनी को शारदा बाबू के जीवन का कुछ भी ज्ञान न था। उसका यह केवल अनुमान ही था कि उनका विवाह हो गया होगा। इसलिये उसने उनकी पत्नी को यह उपहार देने की बात सोच निकाली।

शारदा बाबू हार मोहिनी को ही वापस करते हुए बोले—"जो बात कभी संभव नहीं, उसी को मूर्तिमान मानकर इतनी उदारता प्रकट कर रही हो! पाने के लिये तो मैं तुमसे बहुत कुछ पा चुका हूँ। प्रमाण-स्वरूप इस समय केवल एक ही वस्तु मेरे पास है। सौभाग्य से वह अब तक मेरे पास सुरक्षित है और शायद आजीवन सुरक्षित रहेगी।'

इतना कहकर उन्होंने अपने हैंडबेग से एक डब्बा निकाला। उसमें कई रेशमी रूमाल एक के ऊपर एक, तह किए हुए निकले, और उनके बाद अंत में एक शुष्क पान। यह पान उन्हीं दो पानों में से एक था, जो उन्होंने मोहिनी से आज से ५-६ वर्ष पूर्व प्राप्त किए थे!

मोहिनी कुछ क्षण के लिये आरामकुर्सी पर अचेत हो गई। थोड़ी देर बाद जब उसकी आँखें खुलीं तो क्या देखती है कि शारदा बाबू उसको चेतना को जाग्रत करने के लिये उस पर भीगा हुआ पंखा झल

रहे हैं ! इस समय उसका मुख उतरा हुआ था—आँखों में आँसुओं की बूँदें थीं । उसने शारदा बाबू के हाथ से पंखा छीनते हुए कहा—"मेरे पत्रों का उत्तर शायद इसीलिये नहीं मिलता था !"

शारदा—"अब उन बातों को भूल जाओ । यह संसार है और इसी प्रकार चलता है ।"

प्रिय
तुम्ह
ष्टर

प्रयाग

[१]

कानपुर

१३ । ७ । १८

प्रियतम,

तुमने लिखा कि स्त्रियाँ विलास की साक्षात् मूर्ति होती हैं, उनका सहवास देश-सेवा-जैसे कठिन व्रत में प्रायः हानिकर सिद्ध होता है। ऐसे समय में तो समाज के नवयुवकों को स्त्रियों के माया-जाल से अलग ही रहना चाहिए। परंतु प्यारे, सच जानो, तुम्हें अपनी धुन में यह एक भ्रम-सा हो रहा है, विवेक को तुम भूल रहे हो, यह दोष, जिसकी भयावनी मूर्ति तुम्हारे सामने हर घड़ी नाचा करती है, कल्पना-मात्र है। तुम स्त्रियों को विलास का खिलौना कहते हो, परंतु तुम अपने इस कथन की ज़िम्मेदारी को टालते क्यों हो? मैं पूछती हूँ कि स्त्रियों को खिलौना-सा बनाया किसने है? मनुष्य यदि अपनी इंद्रियों का अनुचर न बने, अपने विवेक को खो न दे, तो कोई कारण नहीं कि स्त्रियों का सहयोग क्रांति के युग में समाज के तरुण भाग को प्रतिकूल पथ पर ले जा सके, अथवा उसके द्वारा राजनीतिक जीवन को किसी प्रकार की ठेस लगे। पुरुष अपनी वासनाओं को दबाते नहीं, उन पर अपने कर्तव्य का पूर्ण अधिकार रखते नहीं, और दोष देते हैं नारी-समाज को। भला, यह कहाँ का न्याय है? ज़रा सोचो तो सही!

तुम आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहते हो, खुशी से रहो। मैं तुम्हें मना थोड़े ही करती हूँ, पर क्या देश-सेवा के व्रत में व्रती हो, ब्रह्मचारी

रहकर तुम हम लोगों को सर्पिणी, मायाविनी और विलासिनी ही समझोगे—हमारी ओर आँख उठाकर एक बार मद-भरी दृष्टी से देखोगे भी नहीं? यह तो बड़ा अनर्थ करोगे। क्या तुम नहीं जानते कि हमें मिलाकर तुम समाज को बलवान् बना सकोगे?—हमें अपनाकर जेल में निर्द्वंद्वता के साथ रह सकोगे? हमारे सहयोग से तुम्हारी परिस्थिति में तुम्हारा लगाया हुआ पौधा हरा-भरा रहेगा। उसमें कलियाँ फूटेंगी, फूल होंगे और उनकी सुगंध से हमारा क्षेत्र सुगंधित हो उठेगा। तुम जब जेल के फाटक से बाहर आओगे, तब तुम्हें तुम्हारे उन पौधों के पुष्पों की सुगंधि मतवाली कर देगी। सोचो तो सही; वह दिन कितना सुखकर, कितना प्यारा और कितना मधुर होगा!

तुम विलास से अभी इतना दूर भागते हो, पर कभी यह भी सोचा है कि एक दिन वह भी होगा, जब तुम उसके पीछे-पीछे फिरोगे? हृदय में एक बार किसी की चोट तो लगने दो—किसी मोहिनी पर अपनी दृष्टि तो पड़ने दो। अपने को संसार के नेत्रों से छिपाकर रक्खो, लेकिन एक दिन भंडा फूटे बिना न रहेगा। तरुण जीवन को मस्ती एक दिन किसी-न-किसी को अवश्य ले बैठेगी। उस समय तुम कहाँ होगे, कर्तव्य-सागर की अगाध गोद में तुम्हारा क्या मूल्य होगा, क्या इसे भी तुमने कभी सोचा है! उस समय एक वीरात्मा और वीरललना के सहयोग के बिना तुम ऐसे गिरोगे कि आगे की संतान तुम्हारे विश्वासघात पर रोएगी। तुम्हें पत्नी का मूल्य उसी समय ज्ञात होगा।

मैं यह जानती हूँ, तुम बड़े हठ-धर्मी हो। अभी मेरा कहना नहीं मानोगे; पर एक दिन ऐसा भी होगा, जब तुम मेरा मूल्य समझोगे, और मेरे लिये रोओगे।

तुम्हारी—

जाह्नवी

(२)

नैनी-जेल,

१८-६-१८

प्रिय जाह्नवी,

तुम्हारा पत्र मुझे ठीक उसी समय मिला था; जब मेरे द्वार पर सब इंस्पेक्टर आफ् पुलीस और कांस्टेबल मोटर लिए हुए मुझे लेने के लिये उपस्थित थे। न-जाने तुम्हारे पत्र में क्या हो और उसका मेरे हृदय पर कैसा प्रभाव पड़े, यह सोचकर मैंने उस समय उसे न पढ़ा था। आज एक पुस्तक के साथ सौभाग्य से वह मेरे सामने है। तुमने जो कुछ लिखा है, यदि उसे अक्षरशः सत्य मान लिया जाय, तो भी कोई कारण नहीं कि मैं तुम्हें अपना बना ही लूँ। तुम तर्क से जो चाहो वह सिद्ध कर सकती हो, पर दृढ़-कर्तव्य और निष्ठुर प्रतिज्ञा अपने आपको कभी तर्क की अनुगामिनी नहीं मानती, उसका राज्य तर्क के मनोराज्य की सीमा के बाहर तक है।

तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि कभी तुम्हारी स्मृति में मैं रोऊँगा। सचमुच वह दिन निकट आ रहा है। पर इस संसार में क्या ऐसा भी कोई मानव-प्राणी है, जो कभी रोया नहीं। रोना तो बच्चे भी मा के पेट से बाहर निकलते ही, सीख जाते हैं। संसार में हम रोने के लिये ही तो आते हैं। इसलिये हमें रोने का कोई भय नहीं। मिलन और विवाह! नाम मत लो। इस जीवन में वह अब संभव नहीं है। यह युद्ध तो इस जीवन-भर का ठहरा। यदि इसी जीवन में कभी यह समाप्त हो गया, और विजय-दिवस मनाने की बारी आई, तो उस दिन तुम्हारे और हमारे अपूर्व मिलन को संसार की कोई शक्ति न रोक सकेगी। पर मेरी समझ में तो तुम इस बात पर विश्वास न करो, यही उत्तम होगा। तुम इसे सपना समझो।

छोड़ दो, अब मेरा पिंड छोड़ दो ! मुझे भूल जाओ । विश्वास तुम्हारे हृदय में ऐसा भाव उत्पन्न करे, जिससे तुम मुझे भूल जाओ, यही उससे प्रार्थना है ।

इस पत्र के बाद अब कदाचित् तुम्हें कोई पत्र न मिलेगा ।

तुम्हारा—
जीवनसिंह

[३]

कानपुर
३ । ११ । २२

प्राणाधार,

दिद्दिया जाह्नवी की दशा का तुम्हें क्या परिचय दूँ । उनका शरीर अब ठीक नहीं रहता । दो-चार महीने की मेहमान ही समझो । सुनती हूँ, वे एक ऐसे युवक पर आसक्त हैं, जो देश-सेवा की धुन में मस्त है—अपने जीवन को कंटकाकीर्ण पथ में डालकर देश से बाहर हो गया है । वह एक तीव्र वक्ता, सुंदर सुशील और होनहार है, परंतु अपनी धुन का ऐसा पक्का है कि २२ वर्ष की अवस्था में ही उसने राजनीतिक जीवन में अपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है । दिद्दिया ने उसी को अपना आत्म-समर्पण किया है । वे इस समय अत्यधिक दुर्बल हो गई हैं । रात-दिन में मुश्किल से कुल ३-४ घंटे सोती होंगी । या तो कुछ-न-कुछ लिखा करती हैं अथवा छत पर बैठी हुई चुपचाप आकाश की ओर ताका करती हैं । उन्होंने एक काव्य भी लिखा है । तुम आओगे, तो कभी तुम्हें दिखाऊँगी । किसी दिन यही काव्य उनके जीवन की स्मृति होगी ।

तुम्हारी—
कमला

[४]

डरहम, स्कॉटलैंड
१ । १ । २४

प्रियवर माधव बाबू,

तुम्हारा पत्र मिला। यह पढ़कर अत्यंत खेद हुआ कि जाह्नवी ने अब भी संसार को न समझा। ईश्वर उसकी आत्मा को विवेकपूर्ण बनाए।

हम लोग अपनी जीवन-यात्रा में संसार से कितने पीछे हैं, इसका अनुभव यहाँ आने पर ही हुआ। भारत में जो कुछ हो रहा है, यहाँ के समाचार-पत्रों में उसका छाया-चित्रणमात्र रहता है। उसका श्वेत और काला दृश्य-पट देखकर हम भारतीय लोग जो कुछ समझ पाते हैं, वह इस पाश्चात्य संसार की दृष्टि में कभी आता ही नहीं। हम अपनी संगठन-हीनता से भारत के वास्तविक रूप को संसार की दृष्टि से बिलकुल छिपाए हुए हैं। यह स्थिति अत्यंत खेद-जनक है। अभी तक हमने राजनीतिक-जीवन की महत्ता, पवित्रता और कठोरता को समझा तक नहीं है। सुखद भविष्य अभी हमसे बहुत दूर है, और न जाने कितने वर्षों तक रहे। फिर भी निराशा की कोई बात नहीं।

अपने आने के विषय में क्या लिखूँ। यहाँ की सार्वजनिक सभाओं में, भारतवर्ष के राजनीतिक जीवन पर, मैंने अपने जो विचार प्रकट किए हैं। वे मेरी प्रतिष्ठा को तो अवश्य बढ़ाते हैं; पर उनका फल यह हुआ है कि मुझे लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। यहाँ तक कि भारत-वर्ष आने के लिये मुझे पासपोर्ट भी नहीं मिला है। पर इसके लिये मुझे ज़रा भी खेद नहीं है। अपनी स्थिति जानने के लिये मैंने यह विचार किया था। वास्तव में मेरी इच्छा अभी यहीं रहने की है। यहाँ रहकर हम

जो कार्य कर सकेंगे, वहाँ रहकर कदाचित् उस प्रकार का कार्य करना संभव न हो। पत्र लिखते रहिए।

भवदीय—
जीवनसिंह

[४]

कानपुर
२।२ २४

प्राणाधार,

हो गया—जो होना था, सो हो गया। आखिरकार दिद्दिया ने अपनी इहलीला समाप्त कर दी! उफ! वह दिन कभी न भूलेगा! तुम्हारा पत्र आने पर जब उन्होंने सुना कि जीवन बाबू को भारत आने का पासपोर्ट न मिला, तो वे पागल-सी हो गईं! बोलीं—"निष्ठुर प्राण निकते ही नहीं! आज उन्हें निकालकर ही छोड़ूँगी। संसार आग उगले और भारतीय-समाज का यह रूप कि एक पवित्रात्मा तड़प-तड़पकर मर जाय, और उसे ऐसा अवसर भी न मिले कि वह देश से बाहर अपने प्यारे को देखने के लिये जा सके, तो ऐसे जीवन का नष्ट हो जाना ही अच्छा! हे ईश्वर के अस्तित्व! शैतान को भेजो—यमराज को भेजो—वह मुझे उठा ले जाँय। आओ भगवान् शंकर के गणदेव! आओ, मुझे वहीं ले चलो, जहाँ मेरा जीवनाधार भारत के उद्धार की बात सोच रहा है।" इतना कहते-कहते उनका स्वर रुक गया और आँखें खुली रह गईं। अंतिम समय की मुसकान हृदय में अब भी समाई हुई है। भगवान् ऐसी देवियाँ घर-घर उत्पन्न करें। दिद्दिया सचमुच देवी थीं।

एक तुम हो, और मैं हूँ। देखें, यह घटना तुम पर कुछ प्रभाव डालती है या नहीं। इस समय तुम्हे देखने को जी चाहता है। आओगे नहीं ?

तुम्हारी—

कलमा

परीक्षा

[१]

कानपुर
३ । १२ । २७

प्रिय कृष्णा,

तुम्हारा पत्र मिला। पते पर तुम्हारे अक्षर देखकर हृदय में हलचल-सी मच गई। अक्षरों की मूर्तियों में मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे तुम इस समय भी उस दिन की भाँति खिड़की से झाँक-कर मुझे देखना चाहती हो, और मैं वाटिका में टहलते-टहलते ज्यों ही खिड़की के सामने आकर तुम्हारी ओर आँखें उठाता हूँ, तुम मुस्किराकर मुँह फेर लेती हो, परंतु फेर लेने पर भी मैं उसकी अंतिम झाँकी को अपने अंतस्तल में छिपा ही लेता हूँ। मुँह फिराकर उसे तुम मुझसे छीन थोड़े ही सकती हो?

तुमने जो कविता भेजी, वह मुझे पसंद आई या नहीं, यह न बताऊँगा। 'वासंती' में उसे छापूँगा भी नहीं। इसका क्या कारण है, यह भी नहीं बताने का। मुझमें इस समय साहस नहीं रह गया है। ऐसा जान पड़ता है कि मै इस साल भी क़ानून की परीक्षा में सम्मिलित न हो पाऊँगा।

तुमसे पत्र-व्यवहार करके मैंने अच्छा न किया। हृदय में सदा अशांति रहती है। इस अशांति का बीजारोपण भी मैंने ही किया है। इसलिये फल भोगना ही पड़ेगा। परंतु मैं भूल रहा हूँ। मुझे यह सब लिखने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इन पंक्तियों में यदि

तुम्हें विचारों का कुछ विरोधाभास या ऊल-जलूलपन जान पड़े, तो इस प्रसंग को भूल जाना।

जीवन भी एक खेल है। इस खेल में हम कभी हारते हैं, कभी जीतते हैं। कभी किसी खेल में हारते-हारते जीतते हैं, और कभी जीतते-जीतते हारते हैं। विचारों की आँधी, भावों का ववंडर और कल्पना का प्राबल्य जीवन को उलझन में भले ही डाल दे, पर उससे जीवन का खेल बिगड़ता नहीं; हाँ महत्तम अवश्य हो जाता है। यही मेरा विश्वास है, और इसी विश्वास के सहारे मैं जीवन-रक्षा का बड़ा-से-बड़ा सूत्र हूँ। इसीलिये मेरे कुछ मित्र मेरी ढिठाई को देखकर यहाँ तक कहने का साहस कर बैठते हैं कि "तुम्हारे हृदय में किसी एक की कसक नहीं है, न-जाने क्या-क्या पचाए हुए होगे। ऐसे व्यक्ति को हम लोग हृदय-हीन कहा करते हैं!" अच्छा कृष्णा, कभी तुम भी तो मुझे हृदय-हीन नहीं सोचती हो?

'वासंती' का दिसंबर का अंक तुम्हें मिल गया होगा। इस अंक में "नारी-रहस्य" विषय पर लेख छपा है। इसे पढ़कर अपनी सम्मति लिखना। मैं तो यह भी आशा करता हूँ कि तुम इस विषय पर कुछ लिखोगी भी।

कालिंदी इस समय बहुत मचल रही है। उसने दावत भी लुढ़का दी है। इसलिये यह पत्र यहीं समाप्त होता है। आशा है, तुम प्रसन्न होगी।

तुम्हारा—
रमेश

(२)

इलाहाबाद
४ । १२ । २७

प्राणोपम,

पत्र मिला। क्या लिखूँ ? जब से तुम गए हो, रातें बड़ी भयावनी हो चली हैं। दिन बड़ा सौभाग्यशाली है, और रातें एकदम राक्षसी। दिन में हम जो सोचते हैं, वह उसी समय कर तो पाते हैं; पर रातें—शिव ! शिव !!—हृदय को कुचल-कुचलकर रखती हैं। उस दिन की बात भूल गए, जब तुम उनके यहाँ नेवते में पहुँचे थे, मैं भी वहाँ अंदर ही मौजूद थी; पर तुम आए कब और चले कब गए, यह बाद को उस दिन तुम्हीं से सुन सकी थी। रमा (एक छोटी सखी) तुम्हें देखने की ताक में थी, पर यदि तुमने उसे देखा होता, तो मेरा तुमसे पत्र-व्यवहार होता, इस पर विश्वास नहीं होता।

मैं स्वार्थ-त्याग करने में संसार के सभी नीचे-से-नीचे स्वार्थ-त्यागियों से अपने आपको पीछे मानती हूँ। पर क्या बताऊँ, कभी-कभी यह ज़रूर सोचने लगती हूँ कि रमा का जीवन नष्ट हो जायगा, वह मर जायगी। उसके जिलाने का मेरे पास एक ही उपाय है; और मुझे दुःख है कि मैं उसके अवलंबन करने की क्षमता नहीं रखती। मैं जब इस विषय पर विचार करने लगती हूँ, हृदय के भीतर-ही-भीतर खूब रोती हूँ। हृदय के भीतर ही रोने का मुझे इधर अभ्यास-सा हो रहा है। मुझे विश्वास हो रहा है कि तुम भी इस तरह के रोने का आनंद उठाने से परिचित होगे। बोलो, मैं ठीक कहती हूँ न ?

अब मैं तुम्हारे पत्र की बातों पर आती हूँ। मैंने बाल्य-जीवन में सुन रक्खा था कि नृत्य-कला में कमाल हासिल करने में स्त्रियों का बड़ा भाग रहा है, पर आजकल इस बात के नितांत प्रतिकूल दृश्य देखने में

आते हैं। संपादक अपने पत्रों के कॉलमों में नाचते हैं, कवि अक्षरों में और कुछ बिगड़े दिल-दिमाग़ के लोग पत्रों में। तुम ने भी अपने इस पत्र में अच्छा नृत्य-कौशल दिखलाया! खिड़कीवाली बात ख़ूब याद रक्खी! और उसका वर्णन-नर्तन भी एक अनोखी कलाबाज़ी रही!

कविता मैंने 'वासंती' में छपने को भेजी ही न थी। यों ही भेज दी थी। उसे जो चाहो, करो। क़ानून की परीक्षा में इस साल भी नहीं बैठोगे, यह भी तुम्हारे लिये एक साधारण बात ठहरी। मुझे इसकी सूचना देने की क्या आवश्यकता थी?

कभी-कभी मुझे अपने सौभाग्य पर तरस आता है। पिछले वर्ष तक मेरी आँखें किसी की खोज में रहती थीं। २२ वर्ष की वय हो जाने के कारण इधर-उधर का संसार मुझे घूरकर देखता ही नहीं रहा है, खा जाने की भी चेष्टा करता रहा; और मैं? मैं उसकी ओर आँख उठाकर देखने में अपने अपमान का अनुभव करती रही हूँ। यह सब इसलिये कि मेरी आँखें तो तब तक चयन में ही रत रही हैं। एक ज़माने के बाद, अब जब अम्मा मरना चाहती हैं, और चाचाजी सरकारी सर्विस से पेंशन लेनेवाले हैं, जब वे अपने जीवन के इस अंतिम हौसले को मुरझाया हुआ पा रहे हैं; जब मेरी साथवाली बहनें 'ब्रह्मचारिणी' कहकर मेरा मज़ाक़ बनाया करती हैं, तब मैंने जो तुम्हें पाया भी, तो अभिलाषा के इस परम पुनीत पथ में एक काँटा चुभ ही गया। रमा की दृष्टि भी तुमपर चली ही गई! और इधर न तुम मुझे छोड़ने की कल्पना कर सकते हो और न.........! मैंने पहले-पहल विचारों के संसार में जब अपने आपको पाया, तब यही सोचा था कि मैं अपने जवीन में किसी का जी न दुखाऊँगी, अपना कोई दुश्म न पैदा न करूँगी। पर आह! मेरे जीवन की एक साध—आह!

सचमुच तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। अनेक कसकों को अपने हृदय में पालते हुए भी जीवन-रक्षा में कमाल का कौशल और विश्वास रखते हो; पर तुम अपने इस सौभाग्य का कभी अभिमान न करना। यह तुम्हारा नहीं, किसी और का है !

हृदय-हीन ! तुम नहीं, मैं हूँ; क्योंकि शायद मैं रमा को मरते हुए देखूँगी और फिर भी हृदय न फटेगा ! अच्छा होता कि यही आजकल का संसार ४-६ वर्ष पीछे चला जाता। उस समय मैं अपने जीवन की साध को पूरी तो कर लेती। रमा की मुझसे हत्या तो न होती।

'नारी-रहस्य' लेख पढ़ा। लेखक ने लिखा है कि ''नारी-जीवन छायावाद की उस कविता से भी दुरूह और अनुमान-शून्य है, जो पढ़ते हुए अच्छी लगती हुई भी हृदय में सदा के लिये नहीं टिकती, अमरत्व प्राप्त नहीं करती; हाँ,-घर रहकर अध्ययन और जीवन की चुटकियाँ अवश्य भरती है।'' लेखक के इस विचार की यथार्थता की कल्पना मैं इस समय नहीं करना चाहती। पर आगे कभी शायद मैं इसकी मीमांसा कर सकूँ।

मैं इस पत्र के साथ एक चित्र भेजती हूँ। यह किसी का हो, इससे तुमसे कुछ मतलब नहीं। मैं चाहती हूँ कि तुम इसे 'वासंती' के अगले अंक में अवश्य छाप दो। फ़ोटो के नीचे कुछ भी लिख देना। न हो यही लिख देना—आशा।

सुनती हूँ, मेरी सखियों में किसी को मेरी व्यक्तिगत जासूसी करने का कार्य मा ने दिया है। तुम इसे बुरा समझते होगे; पर मुझे इसमें जो आनंद मिल रहा है, तुम उसे क्या जानो ? शायद कभी जान सको।

अब अधिक नहीं।

तुम्हारी—

कोई एक

(३)

कानपुर
६ । १२ । २७

प्रिय मोहन बाबू,

मुझे आशा है कि तुम परीक्षा की पूरी तैयारी में तत्पर होगे। मेरा तो आजकल पढ़ने-लिखने में बिलकुल जी नहीं लगता है। इस वर्ष भी परीक्षा में न बैठ सकूँगा। जान पड़ता है, 'वासंती' भी इस मास बहुत लेट निकलेगी।

तुम सोचते होगे कि रमेश बड़ा अविवेकी हो गया है। तुम्हारा यह सोचना तुम्हारी दृष्टि से संभव है, ठीक ठहरे, पर मैं इन दिनों जैसी स्थिति में हूँ, तुम यदि उसे जान पाते, तो तुम्हारा भ्रम दूर हो जाता। तुम्हीं सोचो, अब मैं परीक्षा में बैठकर भला पास भी हो सकता हूँ? अब तो एक और ही परीक्षा दे रहा हूँ। उसी में उत्तीर्ण होने की सर्वाधिक इच्छा है। इस परीक्षा में बैठकर अब मैं अपनी हँसी नहीं कराना चाहता। यह दूसरी परीक्षा जीवन की है। 'जीवन की परीक्षा' ये शब्द तुम्हें रहस्य से भरे जान पड़ते होंगे। पर इनमें कोई रहस्य नहीं है, सभी स्पष्ट बातें हैं। कृष्णा का परिचय तुम्हें दे ही चुका हूँ। उसे यद्यपि मैं कई वर्षों से जानता हूँ, तथापि उसके जीवन की उस उच्चता की ओर मेरा ध्यान कभी न गया था, जिसे उसने अपने एक पत्र में ऐसे इशारे से लिख दिया है कि सब कुछ मेरे सामने आ गया। मैं अंधकार से निकलकर उज्जवल प्रकाश में आ गया हूँ। जनवरी की 'वासंती' में ऐसा एक चित्र जा रहा है, जिसे देखकर और यह जानकर कि उसका तुम्हारे इस अधम सुहृद् से कोई संबंध अप्रकट रूप में हो गया है, तुम मुझे नराधम ही कहोगे। यद्यपि मेरे हृदय में विवेक की मात्रा बहुत थोड़ी रह गई है, तथापि निर्विवाद-रूप से यह तो मैं कह ही सकता हूँ कि मैं

सौंदर्य का भिक्षुक हूँ। कृष्णा को तुमने देखा ही है, मैंने उसको अपनाने का संकल्प कर लिया था। पर अब एक नई बला और उठ खड़ी हुई है। कृष्णा की ज़बानी मुझे रमा का परिचय-मात्र मिला था। मैं उसे देख न पाया था, पर इस चित्र में उसे मैं जिस रूप में पा रहा हूँ, और कृष्णा ने उसकी चाह की जो बानगी मुझे दी है, इन दोनों बातों पर जब मैं विचार करने बैठता हूँ; तब मेरा हृदय मेरे अधिकार में नहीं रहता। अच्छा मोहन, यदि मैं कृष्णा को धोका न दूँ, उसके साथ अन्याय न करूँ, तो रमा का क्या होगा? वह तो मरी—उसका तो जीवन-पक्षी उड़ा! और यदि मैं कृष्णा से साफ़-साफ़ कह दूँ कि मुझे क्षमा करो, जीवन के लिए छोड़ दो, तो कैसा हो, मोहन?

सोचो तो सही, दोनों कल्पनाएँ कैसी भयावनी हैं! परंतु तुम्हारा यह नराधम मित्र दोनो ही कल्पनाएँ करता है। अच्छा, यदि इन दो में से कोई एक हो ही जाय, तो क्या मैं बच सकता हूँ?

परंतु तुम्हें आश्चर्य होगा; मैं एक तीसरी कल्पना भी करता हूँ। यदि मैं इन दोनो ही मछलियों को अपने हृदय-सर में छोड़ दूँ, तो कैसा हो! उस दशा में क्या मैं तुम्हें मुँह दिखा सकने योग्य रहूँगा? क्या तुमने कभी इस बात की कल्पना की थी कि रमेश पर कभी ऐसा पागलपन सवार होगा? तुम्हारे पैर पड़ता हूँ। भाई मोहन, सच बताओ; तुम मुझे वही रमेश समझ रहे हो या कोई दूसरा। जब तक तुम्हारा पत्र नहीं आएगा, मुझे शांति न मिलेगी, और न तब तक मैं कोई काम ही कर सकूँगा।

तुम्हारा व्यथित-हृदय—

रमेश

(४)

बंबई
३१ । १२ । २७

प्रिय रमेश बाबू,

तार मिला। पत्र भी अभी परसों ही मिला था। कार्य-वश मुझे कई जगह जाना पड़ा, लौटने पर घर पर सब पत्र इकट्ठे मिले। इच्छा तो इस समय यही थी कि तुम यहीं चले आते, तो सब बातें स्पष्ट हो जातीं। पर मेरे पत्र की बातों पर तुम कभी-कभी बड़े प्रभावित होते हो और ज़बानी बातचीत में तुम्हारा तर्क इतना भयंकर रूप धारण कर लेता है, कि जल्दी कुछ निश्चय नहीं हो पाता। इसीलिये पत्र का उत्तर ही देना मैंने उचित समझा है।

तुम्हारे पत्रों में कई अस्पष्ट बातें हैं। स्पष्टीकरण जब तक नहीं होता, तब तक मैं कैसे राय दूँ, यही कठिनाई है। रमा तुम्हें चाहती है, और कृष्णा पर तुम्हारा कई वर्षों से प्रेम है, यह भी मैं जानता हूँ। पर मैं यह नहीं जान सका हूँ कि क्या अभी तक रमा से यह बात छिपी है कि कृष्णा से तुम्हारा कई वर्ष से प्रेम है? कृष्णा यह जानती है कि रमा तुम्हें चाहती है, और रमा को यह सब ज्ञात नहीं है, यह कैसी बात है? विशेषकर उस दशा में जब कि कृष्णा और रमा का कई वर्ष से साथ है। यदि रमा को यह सब ज्ञात है, जैसा कि मैं विश्वास कर सकता हूँ, तो रमा तुम्हें नहीं चाहती है, यही निश्चय है। मुझे आश्चर्य है कि तुम ऐसे भ्रम में क्यों और कैसे पड़ रहे हो? तो विवाह के विषय में पाश्चात्य परिपाटी के ही क़ायल हो और इसीलिये तुमने कई वर्ष से कृष्णा और अपने आपको भावी विवाह के दलदल में डाल रक्खा है। पर क्या मैं यह जान सकता हूँ कि तुम्हारा रमा से कितने दिनों का परिचय है? जब तक उससे तुम्हारी मित्रता न हो जाय, और

जीवन के सभी विषयों पर तुम उससे खुलकर बातें न कर लो, और उससे तुम्हें संतोष न हो जाय, तब तक इस विषय की चर्चा तो व्यर्थ है ही, साथ ही कृष्णा के साथ भी ऐसा गुरुतर अन्याय है, जिसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता।

मान लो, रमा तुम्हें चाहती ही है और वह अनुपम सुंदरी भी है, तो भी क्या तुम उसको अपनाने का विचार कर सकते हो, जब कि तुम कृष्णा के साथ प्रतिज्ञा-बद्ध हो? अवश्य ही ऐसा करके तुम कृष्णा के साथ अन्याय करोगे। उससे क्षमा चाहने की बात तुम्हारे हृदय में आई कैसे? मुझे इस बात पर अतिशय आश्चर्य हो रहा है, सचमुच तुम पागल हो रहे हो। तुम्हारा विवेक तुम्हें धोका दे रहा है।

हाँ, तुम्हारी तीसरी कल्पना कुछ अर्थ रखती है। परंतु इस विषय में तुम्हारी नेकनीयती पर विश्वास नहीं करता। मैं तो उन व्यक्तियों में हूँ, जिन्हें जन्म-भर में केवल एक ही सुंदरी मिली है, और वह है मेरे घर की लक्ष्मी। पाश्चात्य देशों में भी प्रेम का जो रूप दिखाई पड़ता है, उसमें भी उदारता की वे किरणें अभी तक नहीं फूटी हैं, जिनकी तुम कल्पना कर रहे हो। मैं नहीं मानता कि मनुष्य-हृदय एक काल में दो का हो सकता है। परंतु यदि मुझे इस बात पर विश्वास हो जाय कि तुम जो कुछ इस विषय में देख-पढ़ रहे हो, वही वास्तव में हो भी, तो मैं इसमें कुछ बुराई नहीं देखता। अतीत भारत के वैवाहिक विधान में तुम्हें स्थान मिल सकता है।

बुरा न मानना। जो कुछ मेरी समझ में आया लिख मारा है।

हाँ, परीक्षा की तैयारी कर तो रहा हूँ। अब यहाँ के पते से चिट्ठी न भेजना। मैं शीघ्र ही झाँसी चला जाऊँगा।

तुम्हारा—
मोहन प्यारे

(४)

कानपुर
३। २। २८

प्रिय कृष्णा,

पत्र मिला, समाचार जाना। हम तुम अब शीघ्र ही संसार की दृष्टि में भी एक हो जायँगे, यह भी मालूम हो गया। इस शुभ संबंध की सूचना पाकर मेरे मित्र प्रसन्न होंगे, पर ज्यों-ज्यों यह तिथि निकट आ रही है, त्यों-त्यों मेरे हृदय की पीड़ा बढ़ती जाती है। पर मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि क्या इसका उत्तरदायी मैं हूँ? सचमुच तुमने रमा का फ़ोटो भेजकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है। फ़ोटो का ब्लॉक बन गया था, और वह 'वासंती' में छपता भी, पर मैंने उसे रद्दी करा डाला। यद्यपि मैं बड़ा पतित हो गया हूँ, तथापि मैं तुम्हारे साथ यह अन्याय नहीं कर सकता। रमा मेरी नहीं हो सकती। उसको अच्छी तरह से ज्ञात ही नहीं है कि मैं तुम्हारा हो चुका हूँ। इसीलिये मैं उसे भूल जाऊँगा। उसका फ़ोटो इसी पत्र के साथ लौटाए देता हूँ।

परंतु मेरे जीवन, तुमने किस कुघड़ी में रमा का फ़ोटो भेजा था! उसे वापस भेजकर भी मैं उसे अपने से बहुत दूर नहीं भेज सकता। 'वासंती' में वह न छपा, न सही; परंतु वह मेरे हृदय की वासंती में तो अवश्य छपा है। यद्यपि एक दृष्टि से, तुम्हें यह सब मुझे नहीं लिखना चाहिए, फिर भी मैं तुमसे कुछ छिपाना नहीं चाहता। इस

लिये सोचता हूँ, वह तिथि या तो एक ही क्षण के बाद आ जाय और जो कुछ होना हो, तत्काल हो जाय, या फिर वह तिथि सुदूर भविष्य में लीन हो जाय। यही मैं चाहता हूँ।

बस, अब और अधिक नहीं।

तुम्हारा—
रमेश

(६)

झाँसी
१८।२।२८

प्रिय रमेश बाबू,

बधाई! खेद है, परीक्षा के कारण मैं तुम्हारे विवाह में सम्मिलित न हो सका। आशा है, कृष्णा को लेकर अब तुम कानपुर आ गए होगे, और इस सम्मिलित जीवन में तुम स्वर्ग की कल्पना कर सके होगे।

देवीजी को मेरी भी नमस्ते कहना। मैं भी उनके दिलेबेक़रार का एक ख़ाकसार हूँ। मुझे भी मिठाइयाँ मिलनी चाहिए। पत्र देना।

तुम्हारा—
मोहन प्यारे

(७)

कानपुर
३।३।२८

प्रिय मोहन बाबू,

तुम्हारा ही लिखना ठीक निकला। और तुम्हारे ही परामर्श के अनुसार कार्यरूप होने में मुझे सफलता और सुख दोनो की प्राप्ति

हुई। इसके लिये मैं तुम्हारे भावों और विचारों की प्रशंसा करता करता हूँ।

बड़ा मज़ा रहा। मुझे रमा भी मिल गई और कृष्णा भी, और वारीफ़ यह कि मुझे यह सब बताने में ज़रा भी शर्म नहीं आती। हाँ, हर्ष और अभिमान अवश्य होता है।

कृष्णा का यह कोरा विनोद था। रमा का फ़ोटो भी उसी (कृष्णा) का, आज से चार वर्ष पूर्व का, एक नाटक की नायिका के रूप का फ़ोटो था। पोशाक का परिवर्तन, शारीरिक गठन का परिवर्तन और चार वर्षों के रूप का परिवर्तन भी ऐसे व्यापक परिवर्तन का रूप धारण कर गया कि मैं उसे पहचान न सका। कृष्णा ने यह नाटक एफ़्० ए० क्लास में पढ़ने के समय खेला था। मेरा उस समय उससे उतना परिचय भी न हो पाया था। परंतु मैंने ही इसमें भूल की है, या यह भूल सभी से हो सकती है, इसका निर्णय तो तब होगा, जब तुमको भी मैं वही फ़ोटो दिखाऊँगा।

'नारी-रहस्य' वाला लेख तुमने पढ़ा ही होगा। उसके विषय में अपने विचार लिखना। मैं भी कुछ दिनों बाद इस विषय पर अभी कुछ और लिखूँगा। मेरे विचारों में परिवर्तन हो रहा है।

उस समय मैंने भावावेश मे आकर वह फ़ोटो वापसी ही नहीं कर दी थी, बल्कि उसका बना हुआ ब्लॉक भी नष्ट करवा डाला था। अब मैं उस फ़ोटो का ब्लॉक फिर से बनवा रहा हूँ। वह एप्रिल के अंक में छपेगा।

स्त्रियों के लिये तो यह विनोद ठहरा, पर हम-जैसे व्यक्तियों के लिये तो ऐसी बातें बहुत महत्त्व रखती हैं। मैं तो उन्हें न कभी भूलता हूँ, न उन्हें कोरा मज़ाक ही मानता हूँ, उनसे तो जीवन के रहस्यों का उद्घाटन होता है।

कृष्णा तुम्हें मिठाइयों की एक पिटारी भेज रही है। उसका पत्र और मिठाई की बिल्टी इसी पत्र के साथ है। उत्तर देना।

ईश्वर करे, तुम परीक्षा में अच्छे-से-अच्छे नंबर से उत्तीर्ण होओ। मैं क़ानून की परीक्षा तो नहीं दे सका, पर अपने हृदय की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। आशा है, तुम प्रसन्न होगे।

तुम्हारा—
रमेश

मेरा नाता

"परंतु इनका उससे क्या नाता था ?" एकाएक इस प्रश्न ने इंदिरा की हृदय-वीणा के समस्त तारों को—एका-एक करके—झंकरित कर दिया। वह अपने जीवन के कुछ पृष्ठों को उलटने लगी।

इंदिरा रानी श्मशान-घाट से नगर को पैदल ही आ रहीं थीं। पैरों में स्लीपर भी नहीं थे। पक्की सड़क की कंकरीली भूमि ने कोमल पैरों में गड़-गड़कर छालों की सृष्टि कर दी थी। मोटर वापस चली आई थी। सब पैदल ही आ रहे थे। इंदिरा सब से आगे-आगे—लगभग १०० गज़ के अंतर से—आ रही थी। पीछे उसकी दासी भी साथ थी। इस समय इंदिरा की मुखाकृति देखी नहीं जाती थी। कभी किसी ने उसे ऐसी गंभीर और उन्मना मुख-मुद्रा में न देखा था। दासी चुप थी, सब चुप थे। पीछे से आनेवाले कुछ व्यक्तियों की बात-चीत का अस्पष्ट स्वर कभी-कभी सुनाई पड़ रहा था। इस समय इंदिरा का ध्यान एकाएक टूटकर पीछे आनेवाले व्यक्ति की बात पर अटक गया। वह अन्य लोगों से पूछ रहा था—"परंतु इनका उनसे क्या नाता था ?"

❀ ❀ ❀

अब भी याद है। जीवन की मधुर स्मृतियाँ भला किसे भूल जायँगी ? जब पिताजी घूमने निकलते, मुझे भी साथ ले लेते थे। जहाँ संध्या के छः बजे, उन्होंने फूलबाग़ जाने की तैयारी की; मैं भी उन्हें तैयार देखकर उनके निकट आ गई। वह मुझे गोद में उठा लेते, और गाड़ी पर हम दोनों फूलबाग़ की सैर करने निकलते।

❀ ❀ ❀

फूलबाग़ हम लोगों का क्रीड़ा-निकेतन था। मैं जाती, तो वह मुझे वहाँ पर उपस्थित मिलते। हरी-हरी घास पर बैठकर हम दोनो खेलते। न-जाने कितने खेल खेले होंगे—परंतु वह आँख-मिचौनी! आह! तू अब भी याद है! वह मुझसे दो-चार वर्ष बड़े थे। कभी-कभी हम दोनो में चपतबाज़ी भी हो जाती थी! वह थे तो मुझसे बड़े, परंतु अत्यंत दुर्बल—इकहरे बदन के, इसलिये यदि कभी मैं जोश में आ जाती तो उन्हें छका देती थी। वह मेरी इस शक्ति पर मुग्ध थे।

❀ ❀ ❀

क्रमशः हम दोनो बड़े हो चले। वह स्कूल जाने लगे और मैं भी। धीरे-धीरे जब उन्होंने अपने २२ वर्ष के वय में बी० ए० पास किया, मैंने भी हाई स्कूल की परीक्षा पास की। पिताजी इँगलैंड हो आए थे—वह एकदम बीसवीं शताब्दि के पुरुष थे। उन्होंने पहले ही मुझे ग्रैजुएट बनाना तय कर रक्खा था। अस्तु, वह आगे बढ़कर एम्० ए० पास कर, प्रोफ़ेसर होकर यहाँ आ गए और मैंने भी बी० ए० पास कर लिया। यह सब कुछ था; परंतु एक दिन को भी हम लोगों का साथ न छूटा था। फूलबाग़ में हम लोग मिल जाते थे। अब जीवन बदल गय था। अब हम लोगों में जीवन और समाज के अंग-प्रत्यंगों पर बहस हुआ करती थी। कभी-कभी हम लोगों की बहस सुनने लायक़ होती थी। लड़ते-झगड़ते यहीं रात के ९ तक बज जाते थे। उन दिनों पिताजी नहीं थे—उनका स्थान भाई साहब ने ले रक्खा था। इस तरह जीवन के अनेक संध्या-काल, अनेक उषा-काल उसी फूल-बाग़ की हरी घास पर बीते थे। परंतु कौन जानता था कि उनके जीवन का अंतिम संध्या-काल मुझे यहाँ देखना पड़ेगा!

वह प्रोफ़ेसर होकर यहाँ आ गए थे। परंतु अभी मेरे जीवन का एक भाग अनिश्चित था। आह! वे अनिश्चित काल के कुछ महीने बड़ी

कठिनाई से बीते थे ! हाँ, तो कुछ ही महीनों के बाद मुझे रानी बनना पड़ा। राजा साहब ख़ूब मिले—उन्हीं की भाँति सुकुमार और सुंदर। मैं कृतार्थ हो गई। परंतु जबसे मैं रानी होकर यहाँ आई, फिर उनको दर्शन दुर्लभ हो गए। वह मेरे यहाँ न आए। मैंने बहुत चेष्टा की; परंतु वह न आए—न आए। ख़ैर। सार्वजनिक सभाओं में प्रायः उनके दर्शन हो जाते थे। कभी-कभी उनसे बातचीत करने का भी सुअवसर मिल जाता था।

❀ ❀ ❀

१२ वर्ष की ही अवस्था में उनका विवाह हो गया था। तीन-चार पुत्र-पुत्री हैं! गत वर्ष उनके पुत्र का विवाह हो गया है। पुत्र के विवाह के अनंतर जब उनकी बहू आई, मैं भी उसे देखने गई और उस के मुख-दर्शन के उपलक्ष्य में उसे एक गुंज भेंट कर आई थी। मेरे इस व्यवहार पर उनकी धर्म-पत्नी ने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की थी। उन्होंने जब सुना, तो मुसकिरा दिए। बोले—'इसकी क्या ज़रूरत थी?' आह! उनकी वह मुसकान कितनी भाव-भरी थी।

उनकी गृहस्थी बड़े अच्छे ढंग से चल रही थी। एक लड़का इंटरमीजिएट में पढ़ता है, जिसका ब्याह हुआ—दूसरा ८वें दर्जे में। कन्या अभी छोटी है भाई लोग अलग रहते हैं। सुनती हूँ, गृहिणियों में परस्पर कुछ मनोमालिन्य है। उनके भाई साहब के यहाँ ब्याह के उपलक्ष्य में उनके घर के सब लोग—बाल-बच्चे और सहधर्मिणी भी—वहाँ गए हुए हैं। किसी को इस बात का क्या पता था कि इनके जीवन का संध्या-काल इतना निकट है। वहाँ तार भी नहीं पहुँच सकता। आदमी भेजा है। आज रात तक पहूँचेगा। कालिंदी (उनकी गृहिणी) सुनेगी, तो उसको क्या दशा होगी?

ख़ैर, यह तो जीवन से लगा है। इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। पर एक बात, जो रह-रहकर मेरे हृदय में वेदना उत्पन्न कर रही है, वह अवश्य आश्चर्य की है। "जिसका ऐसा बड़ा और समर्थ कुटुंब हो, उसके अवसान के समय उसका एक भी अपना कुटुंबी-जन उपस्थित न हो। जिसके लेखों को इतना सम्मान प्राप्त हो कि दूसरी अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हों, जिसके व्याख्यानों की कॉलेज में ही नहीं, बाहर भी धूम हो, उसके देहांत के समय, उसके मकान पर, दस आदमी भी एकत्रित न हों! विधाता! तेरी लीला विचित्र है!

❀ ❀ ❀

एक प्रकार से उन्होंने मुझे अपनी ओर से अलग कर रक्खा था। आप कभी नहीं आते थे। परंतु फिर भी मुझसे वह छिपे न रह सके थे। मैं प्रायः उनके घर जाती थी, उनकी गृहिणी और कन्या, लड़के भी, मेरे घर आते रहे हैं। परंतु फिर भी वह मुझसे उदासीन-से थे। जीवन भी सुखी रहा। राजा साहब की कृपा से मुझे सभी सुख प्राप्त हुए। अलबत्ता मुझसे कोई संतान नहीं हुई, तथापि अपने कुँवर को तो मैं अपना ही समझती हूँ। आज ३ वर्ष हुए, राजा साहब भी न रहे। मैं भी अधिक-से-अधिक १० वर्ष जिऊँगी। सोचती थी, राजा साहब नहीं हैं, न सही। जीवन का एक साथी अभी बना है। उसी को देखकर, उसीसे बातें करते-करते मेरा जीवन समाप्त हो जायगा। पर आज अपना यह साथी भी हाथ से निकल गया!

❀ ❀ ❀

घर पर सिर्फ़ उनका एक नौकर रह गया था। उसने जब आकर यह दुस्संवाद दिया कि हैज़े से उनका अचानक, बहुत जल्दी देहांत हो गया, तो पहले इस पर विश्वास करने को मेरा जी न चाहा। मन में

आया कि अचानक, इतनी जल्दी उनका देहांत कैसे हुआ। परंतु फिर सोचा, अखिल संसार में निरंतर एक ओर से दूसरी ओर तक जो अगणित समाचार नित्य आते-जाते हैं, उनमें ऐसे कितने समाचार निकलेंगे, जो मृत्यु-संवाद के होते हुए असत्य हों—फिर यह संवाद तो ख़ास उन्हीं का भृत्य ले आया था। देहांत इतनी जल्दी हो गया कि मुझे समय से पहले सूचना न दी जा सकी। परंतु सूचना मुझे पहले से मिल भी जाती, तो मैं क्या कर लेती? उन्होंने भी डॉक्टरों को बुलाया—मैं भी यही करती। उन्हें बचा तो मैं नहीं सकती थी। परंतु जीवन की अंतिम साँसों के समय मैं उनके निकट होती, उनसे दो बातें कर पाती, मेरी यह इच्छा अवश्य थी।

* * *

अर्थी के साथ मैं नहीं आई थी। अपने कुछ आदमी भेज दिए थे। परंतु फिर अंत को मुझसे रहा न गया। मोटर न होती, तो मैं ठीक समय पर पहुँच भी न पाती। उनके कुछ मित्र भी आ गए। सब एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे। पंच-अग्नि दी जा रही थी। मुझसे न रहा गया। जीवन में ऐसे धर्म-संकट का अवसर कभी न आया था। क्षण-भर में ही मैंने कुछ सोच लिया। बहुत दिनों की एक बात हृदय के एक कोने में न-जाने कहाँ छिपी पड़ी थी। मैंने कह दिया—"अग्नि-संस्कार करने के लिये यदि कोई प्रस्तुत नहीं है, तो यह कार्य मैं करूँगी!"

सब आश्चर्य से मेरे मुँह की ओर देखने लगे। किसी व्यक्ति ने कहा—"आप! आप कैसे करेंगी! क्या आपका इनसे कोई नाता रहा है?"

मैंने कह दिया—"हाँ।"

पर किसी को मेरे-उनके नाते का क्या पता है? मालूम नहीं, लोग क्या सोचें? संसार ही तो ठहरा। पर यह तो निर्विवाद निश्चित है

कि मेरे-उनके नाते का पता वे लोग तो क्या जानेंगे, स्वयं वह भी शायद नहीं जानते थे। यह बात उनसे भी छिपी थी। समाज की मर्यादा ख़ूब समझती हूँ। यद्यपि आज की यह घटना लोगों की दृष्टि में कुछ विचित्र हो सकती है; पर मेरी दृष्टि में वह ऐसी नहीं है। इस घटना के क्या अर्थ लगाए जा सकते हैं, यह भी मुझसे छिपा नहीं है। परंतु मैं तो ईश्वर के सामने भी अपने नाते को गौरव के साथ कह सकूँगी।

एक दिन मेयो-हाल में उनका एक व्याख्यान था। विषय था—'समाज की समस्या'। व्याख्यान कैसा रहा था, यह नगर का प्रत्येक शिक्षित अभी तक न भूला होगा। उनका व्याख्यान हो रहा था। राजा साहब भी साथ में थे। व्याख्यान पर मुग्ध होकर वह मुस्किराकर बोले—"इंदिरा, मेरे मन में आज न-जाने क्यों एकाएक अपने प्रति एक आत्म-ग्लानि का भाव उत्पन्न हो गया। तुम सुनोगी, तो आश्चर्य करोगी, मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं व्याख़्याता क्यों न हुआ—और यह भी सोचता हूँ कि यदि इस व्याख़्याता से ही तुम-जैसी विदुषी का विवाह हुआ होता, तो कैसा होता?"

राजा साहब के इस प्रश्न पर शायद मैंने कहा था—"मुझे खेद है कि मैं इस विचार पर ध्यान न कर सकूँगी।"

राजा साहब मेरे इस उत्तर को सुनकर मुस्किरा दिए थे। मैंने उनको यह उत्तर तो दे दिया था, परंतु क्या फिर कभी उनकी यह बात मुझे भूली? बात तो नहीं भूली, परंतु सचमुच उस क्षण को छोड़कर मैंने यह कभी न चाहा कि मेरा उनके साथ संबंध हो। हाँ, उस समय मैंने यह अवश्य सोचा था। बस, उसी एक क्षण का मेरा उनका नाता है, और इसी नाते ने मुझे यह संस्कार करने को बाध्य कर दिया।

संसार में लोगों के नाते अनेक प्रकार के होते हैं। मेरा भी यह एक नाता है। आज यदि मैं उनका साक्षात्कार कर, उनको भी अपना यह नाता बता सकती, तो उन्हें कितना सुखी पाती, यह तो नहीं जानती, पर इतना अवश्य जानती हूँ कि इससे मुझे जो आनंद उपलब्ध होता, वह अवर्णनीय है।

कर्तव्याघात

(१)

कानपुर नगर के पूर्व, गंगा के किनारे, कुछ दूर चलकर शांतिपुर-नामक एक गाँव है। इसमें कर्तव्यानंद-नामक एक साधु रहते हैं। वहाँ 'शारदा-निकेतन'-नामक एक प्रकाशन-मंदिर है। साधुवर ही उसके संचालक हैं। इस प्रकाशन-मंदिर से 'कर्तव्य-ग्रंथमाला'-नामक एक सीरीज़ प्रकाशित होती है। युवक-समाज का चरित्र-निर्माण करना ही उसका एक-मात्र उद्देश्य है। सीरीज़ अच्छे ढंग से चल रही है। उसमें छोटे-बड़े कोई ४० उच्च कोटि के ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी-संसार में इस सीरीज़ ने वही स्थान प्राप्त किया है, जो गुजराती में सस्तुँ-साहित्य-वर्धक कार्यालय को प्राप्त है। यही क्यों, मेरी तो यह भी दृढ़ धारणा है कि इसने अपने १० वर्ष के जीवन में जो सफलता प्राप्त की है, वह उपर्युक्त गुजराती संस्था से कहीं अधिक है।

मैं इस संस्था में प्रायः जाया करता था। उस दिन भी मैं इसी संस्था में ही बैठा हुआ था।

इस ग्रंथ-मालाके प्रत्येक ग्रंथ पर संपादक के स्थान पर 'कर्तव्यवादी' लिखा रहता है। साधु महाशय का तेजोमय दिव्य मुख-मंडल देखकर श्रद्धा-भाव से मेरा मन ओत-प्रोत हो गया। एकाएक मेरे मन में एक आकांक्षा का उदय हुआ। मैंने पूछा—"महात्माजी, यहाँ आकर और आपके दर्शन पाकर, मुझे अतीव हर्ष हुआ। पर अभी तक मैं यह नहीं जान पाया हूँ कि आपकी इस ग्रंथमाला के संपादक यह 'कर्तव्य-वादी' महाशय कौन हैं? क्या इस गुप्त नाम का कोई रहस्य भी है?"

साधु महोदय हँसने लगे। बोले—"नाम में कोई रहस्य भी है, इसकी आशंका आपको कैसे हुई ?"

मैंने कहा—"मुझे कोई आशंका नहीं हुई। मैंने तो यों ही पूछा। यदि आप बता सकें, तो मैं आपका बड़ा आभारी हूँगा।" वे मुझे बहुत उत्सुक देखकर बोले—"यदि आप किसी बाहरी व्यक्ति से प्रकट न करने की प्रतिज्ञा करें, तो मैं आपको इस संबंध में कुछ बताऊँ।"

मैंने कहा—"आप विश्वास कीजिए, मैं किसी बाहरी व्यक्ति से ये बातें नहीं कहूँगा। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

मेरे इतना कहते-कहते वे गंभीर हो गए। उनके मुख मंडल पर वेदना की एक लहर-सी दौड़ गई। बोले—"मेरे जीवन की एक घटना है। मैं यहाँ जिस ढँग से रहता हूँ, आप देखते ही हैं; परंतु अभी तक मैं एक प्रकार से सांसारिक व्यक्ति ही बना हुआ हूँ। जीवन की एक-आध स्मृतियाँ ऐसी विकट हैं, जिन्हें मैं अब तक भूल नहीं सका हूँ। विश्वास भी नहीं होता कि भूल सकूँगा।"

बातें बहुत पुरानी होगईं। मैं उन दिनों लगभग १२ वर्ष का युवक था। कानपुर का यही क्राइस्ट चर्च कॉलेज, जिसमें आप पढ़ते हैं, मेरा क्रीड़ा-स्थल रहा है। मेरे एक मित्र थे राजीवलोचन। हम दोनों साथ-साथ पढ़ते, साथ-साथ खेलते और रहते थे। परस्पर बंधु-भाव-सा हो गया था। एक दिन गंगा-स्नान की ठहरी। सोमवती अमावस्या का दिन था, बड़ी भीड़ थी। हम दोनों साइकिल पर साथ-साथ स्नान करने गए। रास्ते में कॉलेज के २-३ और सहपाठी भी मिल गए। अब हम लोग साइकिल से उतरकर पैदल चलने लगे। विविध प्रकार के अमोद-विनोद के साथ हम लोग सरसैया घाट पहुँचे। पूर्व की ओर स्त्रियों के नहाने का एक विशेष घाट था, जिसे अब ज़नाना-घाट कहते हैं। इस समय उसका और ही रूप है, पर उस समय वह पुरुषों के घाटसे मिला हुआ

था। इस घाट के निकटवर्ती घाट पर हम लोग स्नान करने लगे। वहाँ पहुँचकर मुझे यह बात ज्ञात हुई कि राजीवलोचन का कुटुंब भी स्नान करने आया है। ख़ैर। हम लोग स्नान करने लगे। अपने सहपाठियों में अच्छी तरह तैरनेवाला मैं ही अकेला था। पावस-ऋतु में भी, जब माता का कलेवर बहुत विशाल-रूप धारण कर लेता है, मैं सहज ही एक ओर से दूसरी ओर तैरते हुए चला जा सकता था, मेरे गाँव में नहर है उसमें तैरने का मैं पुराना अभ्यस्त था, कोसों तैरता था। अन्य साथी तो घाट पर ही रहे; पर मैं ज़रा आगे बढ़कर तैरने लगा। कभी-कभी उनके निकट भी आ जाता था। इस तरह हम लोग बड़ी मौज़ से स्नान कर रहे थे। एकाएक मेरी दृष्टि एक लड़की पर दौड़ गई। वह घाट से थोड़ा आगे बढ़ आई थी, और डुबकियाँ ले रही थी। क्षण-भर में ही घाट के पीछे से किसी के रोने का स्वर सुनाई पड़ा। यह स्वर राजीवलोचन की मा का था। मैं वहाँ चला गया। इस तरह उस लड़की को डुबकियाँ लगाते देखकर मैं समझ गया कि हो-न-हो, यह राजीव के घर की ही कोई लड़की है। मुझे यह मालूम होते-होते लड़की भंवर में पड़ गई और डूबने लगी। मैंने किसी के बिना कुछ कहे हुए, क्षण-भर में ही, यह सब जानकर अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। मैं तैरते हुए आगे बढ़ा और उसे भँवर से ढकेलकर निकाल लाया। राजीव की आँखों में आँसू थे। उनकी मा तथा घर की अन्य स्त्रियाँ रो रही थीं। जब मैंने उस लड़की को निकालकर उनके आगे रख दिया, तो राजीव की माँ बड़ी कृतज्ञता प्रकट करती हुई अनेक प्रकार से मुझे आशीर्वाद देने लगी। मैंने इन बातों की ओर बिल्कुल ध्यान न दिया; क्योंकि लड़की को अभी होश नहीं आया था, पेट में बहुत-सा पानी चला गया था। मैंने राजीव को उसे इस ढंग से लिटा देने के लिये कहा, जिससे उसके पेट का पानी मुँह से निकल जाय। वहीं पर

एक तख्त पर उसने उसे उसी ढंग से लिटा दिया। अंत में पानी निकल गया, और लड़की होश में आगई। राजीव उन सबको लेकर चला गया।

[२]

इस घटना के बाद मैं राजीव के घर आने-जाने लगा। वह लड़की राजीवलोचन की बहन थी। बड़ी सुशील और सुंदर। वैसी सुंदर, स्वस्थ और सुशिक्षित लड़कियाँ अपने समाज में बहुत कम देखने में आती हैं। धीरे-धीरे उसका मुझसे अनुराग हो गया। पर यह सब मुझसे छिपा था। मैं तो उसे अलभ्य आकाश-कुसुम समझता था। दूसरे वर्ष उसके विवाह के लिये वर की खोज होने लगी। मैं उसे अपनाने की आशा कैसे कर सकता था, जबकि राजीव कुल में मुझसे उच्च था। वह उसके लिये वर की खोज में था। कहना न होगा, मैं भी उसके दृष्टि-पथ में था। पर वह इतना लज्जालु था कि उसने मुझसे इस की चर्चा भी न चलाई। हाँ, उसने अपने चाचा से इस संबंध में बहुत कुछ कहा था। पर चाचा किसी प्रकार ऐसा संबंध करने पर सहमत न हुए। आप तो जानते ही हैं, कान्यकुब्ज-समाज इस विषय में कितना कठोर है। परंतु न-जाने क्यों, राजीव की मा, जिन्हें मैं भी मा ही कहा करता था, इस संबंध से सहमत थीं। एक दिन उन्होंने मुझसे इस विषय में बातचीत भी की थी, पर मैंने कुछ निश्चित उत्तर न देकर इस विषय को अपने पिता से तै कराने के लिये उनसे कह दिया। पर मेरे पिता भी एक ही कट्टर थे, वे भी इससे सहमत न थे। वे कहते थे, ऐसा संबंध फलता नहीं। इस प्रकार इधर राजीव के घर में उनके चाचा और मा में मतभेद था, और उधर मेरे पिता भी इस संबंध को अनुचित समझते थे। मैं तटस्थ होकर सब देख रहा था। राजीव के चाचा एक ताल्लुकेदार थे। मेरे पिता मध्यम श्रेणी के पुरुष थे। समाज

में उनकी मान-प्रतिष्ठा कम न थी, पर उतना वैभव तो न था, जिस पर उनके चाचा का ध्यान आकृष्ट होता। इधर राजीव मेरे पिता को राजी करने में लगा था, और उसके चाचा एक ताल्लुकेदार के यहाँ संबंध तय कर रहे थे। मेरे पिता ने जब यह सुना, तो वे झल्ला उठे। बोले—"इस दुरंगी चाल का यह तात्पर्य है कि मैं इस वर्ष भी अपने लड़के का विवाह न कर पाऊँ। वे दूसरों से संबंध करने का प्रयत्न करें, और मैं उनकी प्रतीक्षा में किसी अन्य से संबंध करने में असमर्थ रहूँ। यह नहीं हो सकता।" निदान, उन्होंने बिना किसी से कुछ पूछे-ताछे किए इस संबंध को अस्वीकृत कर दिया; और साथ ही मेरा दूसरी जगह संबंध पक्का कर लिया। मेरा विवाह हो गया। फिर भी राजीव के घर मेरा जाना-आना न छूटा। उस वर्ष राजीव की बहन का ब्याह-ब्याह न हो सका।

[३]

१५ वर्षों के पश्चात् संसार बदल गया। मुझपर एक राजकीय डकैती के षड्यंत्र में सम्मिलित होने का केस दायर था। मुझे फाँसी की सज़ा का हुक्म हुआ। अपील हुई। यद्यपि मेरी ओर से बड़े-बड़े बैरिस्टर पैरवी कर रहे थे; तथापि मेरे छूटने की कोई आशा न थी। राजीव इँगलैंड में था। अब हम लोग परस्पर-विरोधी क्षेत्रों में थे। अनेक वर्षों से एक दूसरे के जीवन से बिलकुल अलग थे। वह ब्रिटिश-साम्राज्य की मशीन का एक पुर्ज़ा बना हुआ था; और मैं तीन बार का सज़ायाफ़्ता एक क्रांतिकारी। पता नहीं, राजीव को मेरा यह सवाद मिला था या नहीं। जो हो, मैं उस बार उस केस में बुरी तरह फँस गया था, यद्यपि उससे मेरा रत्ती-भर भी संबंध न था। जेल में रहते-रहते जेल की यातनाएँ भोगने का अभ्यासी हो गया था; और फाँसी पर चढ़कर जीवन उत्सर्ग करने में अपना गौरव भी समझता था। पर मेरी यह

इच्छा अवश्य थी कि मैं अभी कुछ दिन और जीवित रह पाता, तो क्या ही अच्छा होता। सब तरह से निराश होकर मैं ईश्वर की आराधना में लीन रहने लगा; और धीरे-धीरे उसमें आनंद भी यथेष्ट मिलने लगा।

उन दिनों हाईकोर्ट में जस्टिस त्रिपाठी का बड़ा आतंक था। वे न्याय करने में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे थे। पर थे तो वे भी उसी मशीन के पुर्जे, जिसके विरुद्ध अभियोग था। जो हो, मैंने जब सुना कि मैं निर्दोष सिद्ध हूँ, तो मुझे इस बात पर एकाएक विश्वास न हुआ। तरंतु थोड़ी ही देर में मैं जेल से मुक्त कर दिया गया।

(४)

वह दिन बड़ा सुहावना था। मेघ-मालाएँ घिरी हुई थीं; और तरुण-जीवन को उत्फुल्ल करनेवाला मारुत लोल लील-लहरी में लीन था। मयूरी निकटवर्ती उद्यान में कभी क्रीड़ा और नृत्य के विविध दृश्यों की झाँकी दिखाती हुई प्रकृति-नटी के रंग-मंच में अपनी आलोक-माला प्रस्फुटित करती थी, कभी अपनी कूक-माधुरी से साहित्य-रसिकों का मन हरण कर उनके हृदयों में आनंद-मंदाकिनी प्रवाहित करती थी। जेल से मुक्त होते ही मैं यह दृश्य देखकर वास्तव में आनंद-विभोर हो गया। फाटक पर कुछ मित्र लोग आ गए थे। मैं उनके साथ नगर में आ गया।

मैं जस्टिस त्रिपाठी से मिलने के लिये उनके बँगले पर उपस्थित था। चपरासी को मैंने अपना विज़िटिंग कार्ड देकर अंदर भेजा। थोड़ी देर में उसने आकर कहा—"वे तो रात में जगने के कारण इस समय सो रहे हैं। हाँ, उनकी गृहिणी अवश्य आपसे मुलाक़ात करना चाहती हैं।" मैं आश्चर्य-चकित था। अंदर जा तो रहा था; पर पृथ्वी पर पैर ठीक तरह से न पड़ रहे थे। कमरे में पहुँचा, तो जस्टिस मोहदय

की गृहिणी ने मुझे बड़े आदर से बिठाया। बोलीं—"मैं आपको देखने के लिये बहुत उत्सुक हो रही थी।" मैं आत्म-विस्मृत-सा ही रहा था, क्योंकि मैं जो कुछ देख रहा था उस पर मुझे विश्वास न हो रहा था। वे कहती जाती थीं—"आपको जेल में बहुतत कष्ट मिला। देश के सेवकों का जीवन कष्टमय होता ही है।" मैंने अपना जी कुछ कड़ा किया। मैं सँभल गया। मैंने पूछा—"आप मुझे पहचानती हैं! किंतु.........।"

उन्होंने हँसते हुए कहा—"अच्छा, तो आप मुझे पहचानते भी नहीं हैं! ठीक है—उचित ही है।"

मैंने कहा—"शायद आप राजीव की......।"

उन्होंने मुस्किराते हुए कहा—"हाँ, धन्यवाद।"

अब मैं अथाह सागर में उछलने-डूबने लगा। मेरा जी वहाँ न लगा। मैंने कहा—"अब मैं इस समय आज्ञा चाहता हूँ मेरा जी ठीक नहीं है।"

उन्होंने कहा—"यह नहीं हो सकता। आज आपको हमारा आतिथ्य स्वीकार करना पड़ेगा।

मैं बँध गया। हाँ-नहीं कुछ कह ही न सका।

उस दिन उनसे बहुत बातें हुईं। मैंने कहा—"मैं तो जस्टिस साहब से मिलने, उनके उपकार के लिये कृतज्ञता प्रकट करने आया था। मुझे इसका क्या पता था कि यह सब आप ही की अनुकंपा है।"

मेरे इतना कहते-कहते वे बहुत गंभीर हो गईं। बोलीं—"अब भी आपका भय दूर नहीं हुआ। हम किसी पर कृपा करने का न तो विचार ही रखती हैं, और न इसकी अभ्यासी ही हैं। हम तो कर्तव्य-मात्र जानती हैं। कर्तव्य के भार से लदकर कभी आपने मुझे जीवन दिया था, आज उनके हाथों से आपकी मुक्ति का जो न्याय-निर्णय हुआ है,

वह तो उसका शतांश भी नहीं है। देखती हूँ, जीवन-रण से कर्तव्य-कर्तव्य की दुंदुभी बजानेवाले अनेक पुरुष कभी-कभी इतनी कमज़ोरी दिखाते हैं कि अंततः अपने कर्तव्य से नितांत च्युत हो जाते हैं।"

अभी वह कुछ और कहने जा रही थीं, परंतु फिर कुछ सोचकर रुक गईं। उस समय मेरे मन में आया कि यदि मुझे फाँसी हो गई होती, तो कितना अच्छा होता!

(९)

उसी दिन मुझे ज्ञात हुआ कि उस संबंध में तटस्थ रहकर मैं सच-मुच अपने कर्तव्य से च्युत हुआ था। उसी का आघात उसके हृदय में जीवित रहा। सोचता हूँ वास्तव में वह मेरी कमज़ोरी थी। यदि मैं अपना मंतव्य किसी प्रकार पिता-माता से प्रकट कर देता, तो उस पर ऐसा आघात पहुँचने का अवसर न आता। वे वाक्य सचमुच मेरे ही लिये थे। इसके बाद जस्टिस साहब को धन्यवाद देने, उनसे कृतज्ञता प्रकट करने और उनका आतिथ्य अंगीकार करने में अपने को असमर्थ पाकर मैं एक बहाने से चला आया था।

× × ×

आज वह एक प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका है। मेरे यहाँ से प्रकाशित उसका 'कर्तव्य-घात'-नामक उपन्यास आपने पढ़ा ही होगा। कर्तव्य-घात कर्तव्यवादी की आत्म-कहानी है।

इसके पश्चात् उन्होंने कहा—जीवन कहानियों से भरा रहता है, उनसे शिक्षा लेना और उन्हें अपने जीवन में परिणत करना ही उनका सदुपयोग है।

उद्धार

(१)

आज ज्योंही मैं अपने घर से कॉलेज को चला और द्वार की सीढ़ी से उतरने लगा, त्योंही एकाएक मेरा ध्यान सामनेवाले कमरे की खिड़की की ओर दौड़ गया। मैंने एक बार नहीं, सहस्रों बार उस खिड़की की ओर देखा है, परंतु आज एकाएक मेरा ध्यान उधर जाने पर मेरे हृदय में जिन भावों का उदय हुआ, उनका यथार्थ-रूप में वर्णन करना कठिन है। पहले जब कभी मैं उस खिड़की की ओर देखता था, मेरे हृदय में जो भाव आते थे, आज मुझमें वे भाव नहीं हैं। आज के भावों की बात ही कुछ और है। इतना ही कह सकता हूँ कि यदि मैं कवि होता, तो कदाचित् मुझे इस शुष्क शब्दावली का आश्रय न लेना पड़ता। उस समय मैं जो कुछ कह सकता, उसमें मेरे सब भाव आ जाते, यह तो नहीं कह सकता; पर इतना अवश्य है कि उस अवस्था में मेरे हृदय को कुछ संतोष अवश्य होता।

हाँ, आज ज्योंही मेरा ध्यान अपने घर के सामनेवाले घर की खिड़की की ओर गया, त्योंही मेरे हृदय में एक धक्का-सा लगा। मन में कहने लगा—"यही वह खिड़की है जिसकी ओट में कभी कोई किसी की प्रतीक्षा में घंटों खड़े-खड़े आँसू बहाया करता था, और यही वह खिड़की है जिसकी ओट से मैंने एक दिन किसी को देखकर अपने असंभाव्य भविष्य की सुखद कल्पना से अपने आप को कुछ क्षणों के लिये सौभाग्यशाली होने का गर्व किया था। परंतु यदि हम लोगों की इच्छानुसार वर्तमान जगत् कुछ परिवर्तित होकर भविष्य बन जाया करे, तो

ब्रह्मा बाबा को भी कुछ करने-धरने की वैसी आवश्यकता न रहे। जो हो, उस खिड़की को देखकर मुझे अपने भविष्य की उस सुखद कल्पना का भी स्मरण हो आया। इसी स्मृति के साथ मैं अपनी गली से कॉलेज की ओर चल दिया। कुछ लोग अपने घर के द्वार पर बैठे हुए इस प्रकार बातचीत कर रहे थे।

एक वृद्ध—"संसार की भी बड़ी विचित्र गति है। अभी परसों तक रामभजन की स्त्री, सुनते हैं, बिल्कुल भली-चंगी थी। सास-बहू गंगा-स्नान को भी गई थीं। कल सबेरे उसे ज्वर आया, और शाम को उसने सदा के लिये आँखें मूँद लीं।"

दूसरा—"हाँ भाई, यह तो है ही। भगवान् की लीला विचित्र है। परंतु भाई, ऐसी धर्म-निष्ठ और दयावान् स्त्री अब कहाँ मिलती है? वह मानवी नहीं, देवी थी। घर में सुना है, ऐसी रूपवती स्त्री अपने मुहल्ले में अब तक नहीं आई।"

तीसरा—"मैं तो श्मशान तक ले गया था न? इतनी हल्की थी कि कंधे पर बोझ मालूम ही नहीं पड़ा।"

पहला—"अपना २० वर्ष की अवस्था में विधवा होकर १२ वर्ष तक कैसी धर्म-निष्ठा के साथ रही! अपनी ग़रीबी के दिन किस प्रकार काटे।

सौभाग्य से मेरे जूते का ढीला फीता छूट गया था। मैं जल्दी में उसे बिना बाँधे ही घर से चल दिया था। गली में पहुँचने पर मैं उसे बाँधता जाता और साथ ही लोगों की इन समालोचनाओं को भी सुनता जाता था। फीता ठीक कर लेने के बाद मैं फिर चल दिया। इस समय इसी घटना के कारण मेरा जी उद्विग्न हो रहा था। इच्छा होती थी कि कहीं एकांत में जाकर बड़ी देर तक ख़ूब जी-भर रो लूँ। परंतु फिर भी आज कॉलेज में डिबेट था, इसीलिये अनिच्छा-पूर्वक मुझे वहाँ जाना ही पड़ा। पर वहाँ मेरा जी न लगा। डिबेट समाप्त होने से

पहले ही मैं वहाँ से चला आया। घर आने पर ज्ञात हुआ कि मेरे मित्र राजीवलोचन आए हुए हैं, और पास ही एक दूसरे मुहल्ले में ठहरे हैं। मैं तुरंत अपने मित्र से मिलने चल दिया। अभी-अभी उन्हीं के यहाँ से आया हूँ। मेरे हृदय में बड़ा उत्पीड़न है, ऐसा जी में आता है कि आत्मघात कर लूँ। पर कुछ सोचकर रह जाता हूँ।

बात यह है कि अब मुझसे यह छिपा नहीं कि रामभजन की स्त्री की मृत्यु का कारण मैं ही हूँ। मैंने जान-बूझकर उस पर कोई अत्याचार नहीं किया था, न ऐसा होना संभव ही था। परंतु एक बात अवश्य है, वह यह कि यदि मैं प्रोफ़ेसर न होता, और यदि आजकल के सभ्य बाबू साहबों की भाँति अनवकाश के बहाने बहुत-से आवश्यक कार्यों को भी टाल देने का अभ्यास मुझे न होता, तो कदाचित् यह दुर्घटना न होती। इसीलिये बार-बार मेरे मन में यह बात आ रही है कि इसका कारण मैं ही हूँ। रामभजन ने अपनी ३५ वर्ष की अवस्था में दूसरा विवाह किया था। इस विवाह से पूर्व, अपने घर के सामने रहने पर भी, उससे मेरी बोल-चाल न थी। जिस दिन उसने नव-वधू होकर उस घर में पदार्पण किया, उसी दिन से उससे मेरे घर का सहयोग-व्यवहार प्रारंभ हुआ। वे राजभजन, जो मुझसे कभी बात भी न करते थे, अब मुझसे बड़ा स्नेह रखने लगे। मैं उन दिनों हाई-स्कूल में पढ़ता था। मेरा विवाह नहीं हुआ था धीरे-धीरे मैं उनके घर जाने-आने लगा। उनकी स्त्री भी मुझसे बोलने लगी। मैं अपने तीन भाइयों में सबसे छोटा हूँ। मेरी मा मुझे 'छोटे बाबू' कहा करती थीं। वह भी मुझे 'छोटे बाबू' कहने लगीं। मैं जब कभी जाता था, मेरा बड़ा सत्कार करती, और प्रायः मेरे लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के फल तथा मिठाइयाँ तैयार रखती थी। उन दिनों यह व्यवहार यहाँ तक बढ़ा कि मैं नित्य उसके घर जाने लगा। मैं जब स्कूल जाता, तो प्रायः उसी समय खिड़की के सामने आकर अपनी

झलक दिखा जातीं। कुछ दिनों बाद—कदाचित् विवाह के वर्ष-भर बाद—पं० रामभजन का देहांत हो गया।

रामभजन एक दफ़्तर में क्लर्क थे। वेतन तो उनका १००) मासिक था। पर थे वे बड़े ख़र्चीले, कुछ बचाकर न रख गए थे। उनकी मृत्यु के समय उनके घर में उनकी माता थीं, और उनकी यह स्त्री। जिस घर में वे रहती थीं, वह उनका अपना ही था। यदि किराए पर भी उठाया जाता, तो १०) ही मासिक आ सकते थे। रामभजन की ससुराल में कोई न था। इस तरह परिवार का जीवन-निर्वाह कैसे हो, यह एक कठिन समस्या थी। अनेक ऐसे उपाय सोचे गए, जिससे सास-बहू के अपने घर पर कुछ कार्य कर लेने से निर्वाह-भर के लिये आमदनी हो सकती। मैंने ऐसा प्रबंध भी कर दिया था। परंतु उन दिनों बाज़ार की दशा बहुत बिगड़ी हुई थी. सभी व्यवसाय शिथिल थे। एक दिन मुहल्ले की महरी मेरे-घर बैठे हुई थी। मैं खाना खाकर उठा, तो रामभजन के घर का हाल उससे पूछने लगा। महरी ने बताया, "कल से सास-बहू को कुछ भी खाने को नहीं मिला है। सूत बेचने के लिये बाज़ार भेजा था। दूकानदार ने कल शाम को रुपए देने को कहा था, परंतु हड़ताल होने के कारण परसों से ही बाज़ार बंद है।

मैंने उस दिन अपनी मा से कहकर, दोनो के खाने-भर को भोजन-सामग्री उनके घर भेज दी। इसके बाद मुझे उन लोगों की दशा पर बड़ा तरस आया। फूल-सा कोमल जिसका शरीर, गुलाब के गुच्छे-जैसा सुंदर खिला हुआ जिसका मुखड़ा और पूर्णिमा की चंद्रिका की-सी जिसकी कांति, उसे भी खाने-पीने का कष्ट। मुझसे यह देखा न गया। मुझे सिनेमा और नाटक देखने का व्यसन था। मेरे वेतन के लगभग २०) मासिक इसी में जाते थे। मैंने अपने इस व्यसन पर नियंत्रण किया। इन २०) में से १०-१२ रुपए प्रति मास बचाने लगा। ये रुपए मैं

नियमित रूप से राजीवलोचन के पास भेज दिया करता था। राजीवलोचन भदरी स्टेट के असिस्टेंट मैनेजर हैं। मैंने इस स्त्री से कह रक्खा था, तुम्हें स्टेट की ओर से सहायता मिलने का प्रबंध कर दिया गया है। तदनुसार ये १०) रुपए जो उसके पास पहुँचते, उन्हें वह स्टेट की ही सहायता समझती थी। कुछ रुपए तो ये दो प्राणी स्वयं सूत कातकर पैदा कर लेते थे। साथ ही उपर्युक्त १०) भी प्रतिमास मिल जाते थे। इस प्रकार इस दरिद्र परिवार का निर्वाह साधारणतया जैसे-तैसे हो रहा था।

दो-तीन दिन की बात हुई। रामभजन की स्त्री के एक ममेरे भाई आए थे। उनके द्वारा उसे यह भी ज्ञात हो गया कि जो रुपए प्रत्येक मास उसके पास मनीआर्डर से आते हैं, वे स्टेट की ओर से नहीं आते। ये रुपए कहाँ से आते हैं? राजीवलोचन स्वयं भेजते हैं, या अपने मित्रों से संग्रह करके भेजते हैं अथवा कोई और ही उन्हें दे देता है, यह बात तो उन्हें नहीं मालूम, पर उन्होंने इस संबंध में इतना अवश्य बताया कि उन्हें अनेक बार इस बात का पता चला है कि प्रायः प्रति मास राजीवलोचन के पास मनीआर्डर पहुँचता रहा है, और उन्हीं दिनों वे भी यहाँ मनीआर्डर भेजते हैं। ये महाशय उसी हल्के में पोस्टमैन हैं।

इसी बात की छानबीन के लिये उसने परसों मुझे बुलाया था। कदाचित् उसे इस बात का पक्का विश्वास हो गया था, कि ये रुपए भेजनेवाला मैं ही हूँ।

रामभजन की मृत्यु के बाद मैंने उसके यहाँ आना-जाना एकदम बंद कर दिया था। इसका कारण और कुछ नहीं, मेरी आत्म-निर्बलता थी। मैं बड़ा संशयालु हूँ। मैं सुंदरता की मादकता का अनुभव कर चुका हूँ। मेरे अंतःकरण में उस समय, जब मैं उसके घर गया हूँ,

हलचल-सी मच जाती रही है। इसीलिये जब कभी विवश होकर मुझे उसके यहाँ जाना पड़ा; बहुत संकोच के साथ गया हूँ, और कुछ देर ही ठहरकर, मतलब-भर की दो बातें करके चला आया हूँ। अनेक बार बुलाये जाने पर भी मैं उसके यहाँ नहीं भी गया हूँ। इन दशाओं में मैंने अपने हृदय को कितना कसकर रक्खा है, यह मैं ही जानता हूँ। इसलिये, अपनी इस कठोरता के कारण मैं कभी-कभी अपने मन में, और कभी प्रत्यक्ष-रूप से भी, एकांत में जाकर कई बार घंटों रोया हूँ; इसलिये कि मैंने अपनी इस कठोरता के परिणाम-स्वरूप उसी खिड़की की ओट से उसकी आँखों के अश्रु-प्रवाह को भी देखा है और इसलिये कि मैंने उसी खिड़की की ओट से उसका शीतल किंतु अग्नि-मय, मंद स्वरों में किंतु भीषण हाहाकार के भावों से ओत-प्रोत मूक किंतु सांसारिक विषमता से आतप्त निर्मम निश्वास-प्रोत भी अपनी इन्हीं आँखों से देखा है। हाँ, तो जब बरसों से मैं उसके यहाँ न गया, तो एक दिन उसने कहला भेजा कि मुझसे दो बातें कर लें और फिर चाहे कभी न आएँ। मैं गया। परंतु मैंने जो कुछ सुना, उसे सुनने की क्षमता मैं उस समय नहीं रखता था। उसने कहा था—"यह माना कि आपको इस तरह बार-बार कष्ट देने का मुझे कोई अधिकार नहीं है; परंतु क्या मैं अपनी इन दुखिया आँखों से तुम्हें देखने का भी अधिकार नहीं रख सकती? तुमने मा से उस दिन क्या कह डाला था! याद है? कहा था, अब तो इस खिड़की को चुनवा दिया जाय, तो ठीक है, क्यों? कहा था न? बोलो! बोलते क्यों नही?" इसके बाद वह रोने लगी और मैं उठकर चला आया।

उस दिन के बाद फिर उसके यहाँ मेरा जाना नहीं हुआ। परसों उसने मुझे फिर बुलाया था; परंतु कॉलेज-संबंधी अनेक आवश्यक कार्यों के कारण मैं उसके यहाँ न जा सका। मैंने कहला भेजा कि इस

समय मुझे अवकाश नहीं है। अवकाश मिलने पर मैं स्वयं आऊँगा — मुझे बुलाने की आवश्यकता नहीं।

राजीवलोचन से मालूम हुआ कि उसे परसों ज्वर आया था। ज्वर साधारण ही था, फिर भी कल ही उसने अपनी इहलीला समाप्त कर दी। आज अभी मुझे उसकी एक चिट्ठी भी डाक से मिली है, वह इसी बात का समर्थन कर रही है। वह इस प्रकार है—

'छोटे बाबू'

"अब मैं चलती हूं। चलना ही अब ठीक है। मेरे कारण आपको बहुत कष्ट हुआ। परंतु आपने कैसे, क्यों और क्या सोचकर अनेक कष्टों को स्वीकार किया, मैं अभी तक यह बात अच्छी तरह से न जान पाई थी। इस बात का मुझे आज ही पता चला है। मैंने आपको बुला कर, आपसे प्रत्येक्ष-रूप से इस संबंध में बातचीत करने की इच्छा की थी। परंतु आपको तो इतना अवकाश नहीं कि हम से बातें कर लेते। सोचती हूँ, एक तरह से आपका यह व्यवहार मेरे लिये लाभदायक ही सिद्ध हुआ है। हाँ, तो आपके न आने पर हृदय में यही बात निश्चित रूप से बैठी कि जो ध्रुव सत्य है, उसके विषय में आपसे पूछना क्या! इसके सिवा एक बात यह भी है कि जब आपने अपने-आपको इतना ऊँचा बना रक्खा है, तब मुझ-जैसे क्षुद्र व्यक्ति का इस विषय में कुछ भी शंका करना और आपसे ही उसे विस्तार-पूर्वक जानने का प्रयत्न करना एक बहुत ओछी बात है।

"मुझे जिस रूप में आपने यहाँ पाया था, अपने आचरण से मैं उसी रूप में यहाँ से जाती हूँ। परंतु छोटे बाबू, इसका अभिप्राय यह नहीं कि मेरे मन में कोई पाप नहीं। इस समय, इस अवस्था में, वह बात जिसकी ओर मेरा ध्यान जा रहा है, पाप ही कहलाएगी, चाहे वह कभी मेरे लिये एक सुंदर कल्पना ही क्यों न हो। इस शरीर से तो,

जिस समाज में मैं पली हूँ, मुझे आपको पाने का कोई अधिकार नहीं था। इसीलिये केवल यह आकांक्षा अपने हृदय में रक्खे हुए मैं जा रही हूँ कि बहुत संभव है, अगले जन्म में मैं आपको अपना बना सकूँ। यदि मुझे आने में कुछ देर हो, तो जल्दबाज़ी न करिएगा। यह निश्चय है कि मैं आपके चरणों में अपने आपको अवश्य समर्पित करूँगी। भगवान् मुझे बल दे कि मैं अपनी इस चिरसंचित अभिलाषा को पूर्ण करने में सफल हो सकूँ।

"मुझे ज्वर आ ही गया है! अब कोई कुछ नहीं कह पाएगा। इसीलिये अनुकूल अवसर पाकर मैं जा रही हूँ। यदि मुझे पहले से यह ज्ञात होता कि आप क्या हैं, तो मुझे जाने में इतनी देर न लगती, और आपको इतना कष्ट भी न देती। पर यह सब ज्ञात हो जाने के पश्चात् अब मुझे उपर्युक्त आशा का पूरा अधिकार हो गया है, और इसी आशा के साथ, बड़े सुख से, मैं जा रही हूँ। अब मुझे भुला देना, नहीं तो आपको कष्ट होगा।

"मैं कौन हूँ—क्या हूँ, यह आप सब जानते हैं। बस। प्रणाम।"

मैं इन अक्षरों से परिचित हूँ, उसी के अक्षर हैं—उसीके! सोचता हूँ, चलो एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। कभी मेरे निर्बल मन में जो एक बात आई थी, उसके नाते मैं उससे अब उद्धार हो गया।

वन-श्री

[१]

भगवान् भास्कर की भुवन-मोहिनी कनक-किरणावली अस्ताचल में अपना अस्तित्व छिपा रही थी। वासंती का सांध्य-समीरण मंद गति से डोल-डोलकर नवागत पथिकों का स्वागत कर रहा था। इधर मधु-रालापा कोकिला रसाल की डाल पर बैठकर वन-श्री के साथ अठखेलियाँ कर रही थी, तो उधर मद-माते मधुलिट इतस्ततः अपनी गूँज-माधुरी बिखेर रहे थे। वह वहीं क्षितिज में अपनी आँखें गड़ाए चुपचाप बैठा हुआ था। मैं अपने साथी केशवकुमार को साथ लिए उसके निकट पहुँच गया। केशव ने देखा, तो आश्चर्य से उसकी मुख-मुद्रा उद्दीप्त हो उठी उन्होंने एक हल्का धक्का देकर उससे कहा—"तुम्हें क्या हो गया है, मोहन?"

मोहन ने जैसे कुछ भी न सुना हो। वह चुप था।

केशव कह रहे थे—"मैं तुम्हारे निकट आ गया, और तुमने इधर ध्यान तक नहीं दिया। मैं जो तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि तुम्हें क्या हो गया है, इसका तुम्हारे पास क्या उत्तर है"

मोहन अब भी चुप था। हाँ, उसकी लाल-लाल आँखें स्पष्ट भाषा में अवश्य कुछ कह रही थीं। केशव उन्हें सुन भी रहे थे। वे कहते जाते थे—"वह तुम्हें नहीं मिलेगी, नहीं मिलेगी, चाहे तुम अपना जीवन ही क्यों न उत्सर्ग कर दो।"

मोहन धीरे-धीरे निश्वास पात कर रहा था। अब उससे नहीं रहा

गया। बोला—"क्या बकते हो केशव! अपना काम करो। इन बातों में क्या रक्खा है?"

केशव ने कहा—"मुझे तुम पर तरस आता है।"

मोहन ने उसी ढंग से कहा—"और मुझे तुम्हारी इन बातों पर..."

केशव—"तो तुम नहीं मानोगे?"

मोहन—"क्या?"

केशव—"यही कि तुम्हारा यही हाल रहेगा!"

मोहन—"इसमें क्या संदेह है? हृदय कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे जिधर चाहे, घुमा दें। वह तो जीवन का दर्पण है। जैसे हम हैं, वैसे ही हृदय के आइने में भी देख पड़ेंगे।"

केशव—"परंतु आइना ग़लत भी हो सकता है। जैसे हम हैं, उसकी अपेक्षा कुछ विकृत भी देखे जा सकते हैं।"

मोहन—"वह आइना सुरक्षित रखने की चीज़ नहीं फोड़ डालने की चीज़ है।"

केशव—"और जो संचित रखने की चीज़ हो, उसे कोई फोड़ डालने का उपक्रम करे, तब?"

मोहन ने ठंडी साँस भरकर और कुछ ठहरकर कहा—"तो उसका अस्तित्व मिटा देना चाहिए।"

केशव बाबू मोहन के भावों को देखकर स्तंभित हो रहे थे। वे समस्या सुलझाने का उपक्रम करने आए थे, परंतु स्वयं उसमें उलझ गए।

[२]

उसका विवाह होने, विदा न होने और दो महीने बाद महामारी के प्रकोप में विधवा हो जाने का दुःसंवाद पाकर, विश्व की इस विषमता पर वह मन-ही-मन रो उठा। अब उसे अपनी वेदना भूल गई, उसे उस पर होनेवाले विधाता के इस अत्याचार का ही ध्यान रहने लगा।

अब उसका जीवन बदल गया था। उसने एक कालेज में प्रोफेसरी कर ली थी। कालेज के प्रोफेसरों के साथ वह मिलने भी लगा था। विशेष उत्सवों पर उसके व्याख्यान भी होते रहते थे। यह सब कुछ था, परंतु उसने विवाह नहीं किया था।

विधवा होने के पश्चात् मालती ने अपना जो जीवन बना, लिया था, उसे देखकर लोगों को पहले तो आश्चर्य हुआ पर धीरे-धीरे वह श्रद्धा के रूप में परिणत हो गया था। शिष्ट समाज उसे आदर की दृष्टि से देखने लगा था। उसे देखकर लोगों के हृदय में एक आदर्श-भाव आ जाता था।

उसने एक गर्ल्स स्कूल में अध्यापिका का कार्य स्वीकार कर लिया था। अनाथालय की लड़कियों को पढ़ाने के लिये भी उसने अपना समय दे रक्खा था। यही नहीं वह उन्हें यदा-कदा पहनने के लिये वस्त्र, खिलौने, पाठ्य-पुस्तकें आदि भी देती रहती थी। कभी-कभी उन्हें भोजन भी कराती थी। इन सब कार्यों से जो समय बचता, उसमें वह कुछ लिखा-पढ़ा करती थीं। इन्हीं कार्यों में उसका शेष समय जाता था। अपने पिता के तिमंज़िले मकान के एक भाग में उसे रहने को स्थान मिल गया था। उस समय उसके पिता तो न थे, भाई थे। वे उसे बड़ा प्यार करते थे। उन्होंने उनका पुनर्विवाह करने की कल्पना की थी। पर मालती ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार मालती अपने छोटे-से संसार में शांति के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रही थी।

(३)

मोहन बाबू ने अपने विद्यार्थी-जीवन में कुछ कविताएँ लिखी थीं। वे संख्या में १६थीं। अब उनका कुछ पता नहीं था। मोहन ने चाहा था कि यदि वे कहीं से मिल जातीं, तो और न सही, उन्हें संशोधित करके छपा ही लिया जाता। पर वे कविताएँ है कहाँ? इसका कुछ पता न था।

इधर मोहन बाबू तार्किक हो थे। हिंदी-संसार में उनके लेखों की धूम थी। लोगों में यह भ्रम ५ रहा था कि वे नास्तिक हो गए है। प्रत्यक्ष-रूप में इस तरह की बात. नने और उन पर अपना स्पष्ट मत देने का सुअवसर उन्हें कभी न मिला था। वे गंभीर बहुत हो गए थे। पर लोगों को उनकी चिरस्थायी गंभीर मुख-मुद्रा देखकर उनसे दिल्लगी करने का साहस होता था।

आश्विन-मास का प्रथम रविवार था। गाँव में मलेरिया-फ़ीवर का प्रकोप था। वैद्यों को इतना भी अवकाश नहीं मिलता था कि वे घड़ी-दो-घड़ी बैठकर आराम कर सकें। मोहन बाबू भी बीमार पड़े। मास डेढ़ मास तक मलेरिया फ़ीवर का प्रकोप रहा, तदनंतर वह शांत हो गया। चारपाई-सेवन करनेवाले रोगी अब उठ खड़े हुए, और काम-धंधे में लग गए। पर मोहन बाबू की चारपाई का उनसे प्रेम हो गया था। वह उन्हें अपना ही अंगशायी बनाए हुए थी। कानपुर के एक प्रसिद्ध डॉक्टर प्रतिदिन आते थे। एक दिन डॉक्टर साहब ने निराश होकर केशव बाबू से स्पष्ट कह दिया कि इन्हें राज-यक्ष्मा हो गया है। इन्हें पहले भी कुछ थोड़ा-बहुत ज्वर रहा होगा। असावधानी से इन्होंने बतलाया नहीं है। फिर भी कुछ समय आशा-निराशा से युद्ध करते हुए औषधोपचार में व्यतीत हुआ।

एक दिन मोहन बाबू की जीवन-नौका बीच धारा में पहुँच गई। शरद, शिशिर और हेमंत के दिन अपना वैभव दिखाकर चले गए थे। बसंत-पंचमी का शुभ दिन आ गया। प्रातःकाल ज्यों ही केशव बाबू आए, उन्होंने देखा, मोहन बाबू आज प्रसन्न हैं। शरीर सूख कर काँटा हो गया है, पर मोहन बाब की मुख-कांति अब भी दर्शकों पर प्रभाव डालती है।

उन्होंने कहा—"कहो, कैसा जी है, मोहन बाबू ?"

मोहन—"आज तो अच्छा हूँ, भाई। हाँ, पहले एक काम करो। मेज़ पर एक मोटी जिल्द, बहुत से समाचार-पत्र, और दो-मासिक पत्र पड़े हैं। ज़रा देखिए तो, किसकी कृपा हुई है।

केशव बाबू ने पहले जिल्द का पैकेट खोला। एक समालोचना का ग्रंथ था। नाम था, 'वन-श्री'। उसकी संपादिका थीं, मालती देवी। उसके एक भाव में मोहन बाबू की १६ रचनाएँ, दूसरे में उनकी समालोचना और तीसरे में हिंदी के लगभग डेढ़-सौ लेखकों और कवियों की सम्मतियों का संग्रह था। किसी कवि ने लिखा था–"मोहन की ये रचनाएँ सदा अमर रहेंगी। खेद है, हिंदी-जगत् से यह महाकवि अभी तक छिपा रहा है।" एक संपादक ने लिखा था—"मोहन बाबू की ये कविताएँ हिंदी की स्थायी संपत्ति हैं। प्रकृति का ऐसा सुंदर चित्रण वड्सवर्थ भी नहीं कर पाया था।" केशव बाबू की उत्सुकता बढ़ रही थी। उन्होंने उस खंड के आगे के पन्ने उलटे। अगले खंड में मोहन बाबू का संक्षिप्त जीवन-चरित्र और चार चित्र थे। एक उनकी दस वर्ष की अवस्था का, दूसरा १८ वर्ष की अवस्था का, तीसरा प्रोफ़ेसर-जीवन के प्रारंभ-काल का- २९ वर्ष की अवस्था का, और चौथा एक सार्वजनिक सभा में व्याख्यान देते हुए कहा था। केशव बाबू ने ठंडी साँस के साथ जिल्द को मेज़ पर रख दिया,। और मासिक-पत्र देखने लगे।

मोहन बाबू अभी तक किसी तरह चुप थे। अब उनसे नहीं रहा गया। बोले—"क्या है भाई, जल्दी बोलो। तुम तो मेरा दम घोंट रहे हो।"

केशव बाबू ने कहा—'दो मिनट बाद बताऊँगा; अभी क्षमा कीजिए। केशव बाबू ने मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों को उलट-पुलटकर देखा, किसी में उनका जीवन-चरित, कुछ कविताएँ और चित्र ज्यों-के-त्यों उद्धृत करके संपादक ने उन्हें विश्वकवि लिखा है, तो किसी

ने उन्हें मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देने की सलाह दी है। दैनिक समाचार-पत्रों के कॉलम-के-कॉलम इन्हीं सब बातों से भरे पड़े हैं। केशव बाबू ने सब को एक ओर रखकर मोहन बाबू को संक्षेप में सब बता दिया। उन्होंने यह भी बताया कि ये सब समाचार-पत्र और मासिक-पत्र मास-डेढ़-मास पहले के हैं। किसी ने उन सबको संग्रह करके आपके पास भेज दिया है

मोहन बाबू यह सब सुन, अचेत होकर चारपाई पर गिर पड़े।

८ बज रहे थे। ई० आई० आर० की सेविन-अपट्रेन आए १० मिनट ही हुए थे। फाटक के भीतर कमरे में हिंदी के कई लेखक, और कवि, जिनमें मोहन बाबू के कुछ सहपाठी भी थे, उपस्थित थे। केशव बाबू को अंदर से आता हुआ देखकर सबकी दृष्टि उन पर ठहर गई। एक महाशय ने कहा—"हम लोगों को कल ही ज्ञात हुआ कि मोहन बाबू बहुत बीमार हैं। विविध नगरों से हम लोग उनको दर्शन करने की इच्छा से आए हैं।"

केशव बाबू ने कहा—"इस समय एक घटना से वे अचेत हो गए हैं। मैं डॉक्टर साहब की प्रतिक्षा कर रहा हूँ। ट्रेन तो आ गई। आप लोग उसी से आए होंगे; पर वे नहीं आए।"

उपस्थित व्यक्तियों में से एक ने कहा—"चलिए, मै सेवा करने के लिये तैयार हूँ। १० वर्षों से मै यही कार्य कर रहा हूँ।"

सब लोग अंदर चल दिए। एक चारपाई पर कवि को, जिसके शरीर पर मांस न रह गया था, अचेत देखकर सब लोगों की आँखें सजल हो आईं।

× × ×

आँखें खुलने पर मोहन बाबू ने देखा, मालती उनके सामने थी। उसका उदास मुख देखकर भी मोहन बाबू के मुख पर उल्लास की एक हल्की रेखा दौड़ गई।

एक सज्जन फ़ोटो ले रहे थे। मालती मन-ही-मन कह रही थी—
"इस जन्म में तो मैं तुम्हें न पा सकी, पर अगले जन्म में अवश्य पाऊँगी।"

मोहन बाबू अपने मन में क्या सोच रहे होंगे, मालती यह भी सोच रही थी, पर उसे कौन जानता है ?

पेंसिल-स्केच

(१)

इसके बाद ३ दिन तक वह और जीवित रहा।

रात के बारह बजे थे। छत पर, जहाँ वह लेटा हुआ था, चंद्रिका छिटकी हुई थी। मंद-मंद मारुत का एक-आध झोंका कुंदन केश-पाश से टकराकर जगदीश के शरीर को छूकर निकल जाता था। वायु के झोंके के साथ सेंट की सुगंधि की जो लपट आती थी, इस समय कुंदन को बहुत खटक रही थी।

जगदीश ने एक आह खींचकर, कुछ ठहरकर कहा—"कुंदन, यह जीवन तो अब गया! हम लोगों ने क्या सोचा था—क्या हो रहा है!"

कुंदन ने उत्तर में सिर नीचा कर लिया—कुछ कहा नहीं।

जगदीश ने फिर कहा—"मैंने जिस दिन तुम्हें पहले-पहल देखा था, उस दिन...... ।"

जगदीश की आंखों से आँसुओं की बूँदें टप-टप गिरने लगीं, गला भर आया। कुंदन चुपचाप उठकर एक कमरे मे चली आई। जगदीश के सामने जी भरकर वह रो भी न सकती थी।

१० मिनट के बाद कुंदन फिर जगदीश के निकट बैठी थी। जगदीश मुस्किराकर कह रहा था—"परंतु यदि यही बात मुझे पहले ज्ञात हो जाती, तो कितना अच्छा होता, कुंदन!"

जगदीश अभी बिल्कुल युवा था, परंतु उसके शरीर पर मांस नहीं रह गया था—अस्थि-पंजर के बीच में जीवन की कुछ घड़ियाँ और

बिताने के लिये अथाह वेदना से भरा हुआ हृदय-भर जीवित था। कपोल पचककर गड्ढे बन गए थे! इस मुस्किराहट का कुंदन के हृदय में एक चित्र-सा खिंच गया। उसके हाथ में 'प्रदीप'-नाम का एक काव्य-ग्रंथ था। कुंदन ने उसका एक पन्ना उलट दिया। जगदीश ने कहा—"मेरा पहला चित्र देखती हो न? इस समय कौन विश्वास करेगा कि यह मेरा चित्र है!"

जगदीश ने देखा, कुंदन चित्र को बड़े मानयोग से देख रही है। वह कुछ सोचने लगा। कुंदन ने उसी समय जगदीश के मुँह की ओर देख-देखकर उसका एक पेंसिल-स्केच ले लिया। जगदीश का इस ओर ध्यान न था।

तीसरे दिन जगदीश ने सदा के लिये अपनी आँखें मूँद लीं।

[२]

उपर्युक्त घटना के २१ वर्ष बाद।

कुंदन आज पुत्र-पुत्री की मा है। पुत्री का नाम कल्याणी है। कल्याणी के विवाह की बातचीत जिस युवक के साथ होने को थी, वह एक कॉलेज में प्राफेसर है। उसकी अवस्था ३० वर्ष की है। वह अभी तक अविवाहित है। कल्याणी के भाई बाबू शारदाचरण एक वकील हैं। शारदा बाबू अब इस विवाह से सहमत नहीं हैं। उन्होंने अब कल्याणी के लिये एक दूसरा वर ढूँढ लिया है। वह डाक्टर है। कुछ दिनों से कुंदन अस्वस्थ रहती है। शरीर सूख गया है। कल्याणी की एक सखी है। उसका नाम है, यमुना। यमुना एक गर्ल्स हाई स्कूल में अध्यापिका है। वह कुंदन के मन-बहलाव के लिये प्रायः उससे बातें करने आ जाती है। इस समय यमुना कुंदन के निकट बैठी हुई बातचीत कर रही है।

कुंदन ने कहा—"यमुना बेटी, कल्याणी का विवाह एक दूसरी जगह तय हो रहा है।"

यमुना—"कहाँ मा ?"

कुंदन—"कानपुर में डाक्टर कौशल का एक लड़का है, जो अभी इसी साल विलायत से डाक्टरी पास कर आया है। लड़का सुंदर, सुशील और स्वस्थ है। उसका फ़ोटो देखेगी ?"

यमुना—"कहाँ है ? देखूँ।"

कुंदन ने फ़ोटो यमुना के हाथ में रख दी।

यमुना बोली—"निस्संदेह वर कल्याणी के योग्य है पर एक बात यदि मैं तुमसे कहूँ, तो, बुरा तो न मानोगी मा ?"

कुंदन—"नहीं बेटी, इसमें बुरा मानने की कौन-सी बात है। मैं तो इस विषय में तुम्हारी सम्मति जानने की इच्छुक भी थी।"

यमुना—"इस विषय में कल्याणी की सम्मति क्या है, यह तुम्हें कुछ मालूम हुआ है ?"

कुंदन—"नहीं तो। अभी कल ही तो फ़ोटो आई है।"

यमुना—"अच्छा मैं बता दूँ। कल्याणी इस नवीन आयोजन से सहमत नहीं है। क्यों सहमत नहीं है, इसका कोई कारण जानने की आवश्यकता नहीं है।"

कुंदन—"परंतु बेटी, यह वर तो बहुत ही अच्छा है। यदि तू उसे समझाएगी, तो मुझे विश्वास है कि वह मान लेगी। परंतु उसे यह न बतलाना कि इस विषय में मेरी निजी राय क्या है। मैं उसकी सच्ची राय जानना चाहती हूँ। वह यदि इसे पसंद कर ले, तो क्या ही अच्छा हो।"

यमुना—"मैं इसके लिये प्रयत्न करूंगी। परंतु मुझे स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं है कि वह इसे स्वीकार कर लेगी।"

(३)

कुंदन ने शारदा बाबू को बहुत समझाया, परंतु वे किसी तरह डॉक्टर-वर से संबंध न करने पर सहमत नहीं हुए। अंत में यही संबंध करना निश्चत हो गया।

परसों बरात आने को है, कल्याणी के विवाह की तैयारी बहुत धूम-धाम के साथ हो रही है। मंडप-स्थापन-संस्कार होने जा रहा है। कुंदन एक आभूषण निकालने के लिये अपना एक पुराना ट्रंक खोल रही है। ट्रंक के भीतर की सामग्री को देखकर वह उसी में एक ओर रखती जाती है। परंतु बहुत खोजने पर भी आभूषण नहीं मिल रहा है। एकाएक एक ओर कोने में पड़े हुए एक खुले लिफ़ाफ़े पर उसकी दृष्टि दौड़ गई। कुंदन उसे उठाकर देखने लगी। एक मोटा काग़ज उसमें सुरक्षितरूप से रक्खा हुआ है। ज्यों ही उस काग़ज के टुकड़े को कुंदन ने ध्यान से देखा, तो वह पेंसिल-स्केच था। उसका सिर घूमने लगा। २०–१९ वर्ष की स्मृतियाँ एक-एक कर उसके सामने आ गईं। रह-रहकर उसे याद आ रहा था—"यदि यही बात पहले मालूम हो जाती, तो कितना अच्छा होता, कुंदन !" रह-रहकर एक वेदना-सी उसके हृदय में उठने लगी।

कुंदन ने एक दासी से कहा—"भैया को ज़रा बुलाना तो, मेरा जी न-जाने कैसा हो रहा है।"

थोड़ी देर में शारदाचरण ने आकर देखा, मा एक पलँग पर अचेतन दशा में लेटी हुई है। बहू उन पर पंखा झल रही है। जो स्त्रियाँ मंडप-स्थापन-संस्कार के लिये आई थीं, वे सब भी एकदम घबराई हुई हैं।

आध घंटे के बाद कुंदन ने आँखें खोल दीं। शारदा ने पूछा—"मा, कैसा जी है ?"

कुंदन ने कहा—"जी तो अच्छा नहीं है। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि इस विवाह से कल्याणी सुखी न होगी। पूर्व निश्चित वर ही ठीक है।"

शारदा—"यह कैसे जाना जा सकता है, मा ! यह तो भविष्य की बात है।"

कुंदन—"यह मेरी चला-चली का समय है। यदि तुम यह चाहते हो कि मैं सुख से मरूँ, तो तुम्हें मेरी यह बात माननी होगी।"

शारदा ने देखा, मा का मुँह एकदम उतरा हुआ है उसने मा के शरीर पर हाथ रखकर देखो, तो वास्तव से उसके शरीर में विषम ज्वर था। बोले—"अरे, तुम्हें तो ज्वर भी आ गया है !"

कुछ घंटों के बाद कुंदन की दशा और भी गिर गई। शारदा बाबू मा के निकट बैठे हुए थे।

कुंदन ने कहा—"कल्याणी को तुम्हें सौंपे जाती हूँ। उसका विवाह प्रोफ़ेसर रामकृष्ण के साथ ही करना।"

शारदा बाबू—"ऐसा ही होगा मा। मैंने तार देकर यह विवाह रोक दिया है। कुंदन के गद्‌गद कंठ से कहा—"तूने मेरी बात मान ली। चलो, अच्छा हुआ। भगवान् तेरी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण करेगा।"

इसके पश्चात् कुंदन ने कल्याणी को बुलाया। वह एक ओर खड़ी-खड़ी आँसुओं की वर्षा करती हुई सिसक रही थी। मा के निकट आकर रोने लगी।

कुंदन ने उसकी ओर देखा। बोली—"बेटी, जन्म-मरण तो जीवन से लगा है। तू व्यर्थ रो रही है।"

पुनः थोड़ी देर बाद बोली—"कल्याणी, मैं तेरी मा हूँ, फिर भी आज संकोच छोड़कर तुझसे यह कहे जाती हूँ कि हृदय की बात सदा

छिपाए रखने की ही वस्तु नहीं है, कभी-कभी उसे अपने आत्मीयों से प्रकट कर देने में ही अपना और अपने समाज का कल्याण-साधन होता है। मुझे विश्वास है कि भगवान् तुझे सुखी करेगा।" यह कहते-कहते कुंदन ने कल्याणी का हाथ चूमकर उसे अपनी छाती से लगा लिया—आँखें मूँद लीं। इसके बाद फिर कुंदन ने आँखें न खोलीं।

सेवक का सुख

(१)

राजा मानपुर के अंतःपुर में जगदीश नाम का एक पुराना नौकर है। वह दाढ़ी रखाए हुए है। जिस समय वह नौकर हुआ था, उस समय भी दाढ़ी रखाए हुए था। उसकी अवस्था अब ५० वर्ष की होगी; पर उसका सुदृढ़ और सुंदर शरीर उसे इस अवस्था में भी कम का सिद्ध करता है। अकेला ही है। उसका विवाह नहीं हुआ। वह पढ़ा-लिखा ख़ूब है; पर अपनी शिक्षा के अनुसार किसी ऊँचे पद पर कार्य करने की उसने कभी इच्छा न की। राजा साहब उससे कहा करते थे—"जगदीश, क्यों तुम अपनी उम्र ख़राब कर रहे हो। मैं तुम्हें दफ़्तर में एक अच्छे पद पर रख लूँगा। अरे, इस संसार में, मनुष्य-जीवन का, कुछ तो सुख प्राप्त करो।" राजा साहब की ऐसी बातों का जो उत्तर जगदीश की ओर से मिलता, उसे सुनकर राजा साहब अवाक् रह जाते। जगदीश कहता—"संसार में सुख! कल्पना है। सुख, राजा साहब आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ। संतोष में ही सुख है। पर जीवन में सबका अपना-अपना सुख भिन्न-भिन्न प्रकार का है। आपका सुख कुछ और है, मेरा कुछ और। मुझे उच्च पद पर नियुक्त होकर जो कुछ प्राप्त होगा, उसमें वह सुख कहाँ, जो यहाँ मिलता है। राजा साहब, कहने और सुनने में मेरी बातें आपको निस्सार प्रतीत होती होंगी, पर कभी अनुभव कीजिएगा, तो जानिएगा—जगदीश क्या कहता था।"

(२)

राजा साहब ने तीन विवाह किए हैं। पहली रानी रुग्ण रहती हैं, इसीलिये उन्होंने दूसरा विवाह किया था। पहली रानी से कोई संतान न हुई, और दुर्भाग्य से दूसरी से भी न हुई। तीसरा विवाह अभी हाल ही में हुआ है। रानियों का नाम क्रमशः कमला, विमला और सरला है। सब रानियाँ जगदीश पर बड़ा स्नेह रखती हैं, पर कमला रानी ही का जगदीश पर विशेष स्नेह है। जगदीश उन्हीं की परिचर्या में विशेष रूप से तल्लीन रहता है, पर उसकी कार्य-प्रणाली ऐसी उत्तम है कि सभी रानियाँ उसे अपना ही विशेष सेवक समझती हैं।

एक बार राजा साहब के छोटे भ्राता कुँवर विशालसिंह कमला रानी को तीर्थाटन कराने के लिये उनके साथ गए; तो जगदीश को भी साथ ले गए। जगदीश की अनुपस्थिति में शेष दो रानियों की परिचर्या संतोषजनक न रही। अतएव राजा साहब को यह आज्ञा देनी पड़ी कि जगदीश कभी बाहर न जायगा।

(३)

एक बार सब रानियों ने मिलकर जगदीश से आग्रह किया कि वह अपनी दाढ़ी मुड़ा डाले। जगदीस को उनकी इस आज्ञा का पालन करने में जो असमर्थता हुई, उसके कारण उसका जी बहुत दुःखी रहा। जगदीश को दुःखी देखकर रानियों ने उससे इस प्रकार का आग्रह करना छोड़ दिया।

जगदीश के जीवन की कथा कोई न जानता कमला। रानी ही केवल इतना जानती हैं कि वह कुँवर कृपालुसिंह का अपना ख़ास आदमी था, जैसा कि जगदीश ने कभी उनसे कहा भी था। कमला रानी यह बात भी जानती हैं कि कुँवर साहब से उनका जो सौहार्द रहा है, जगदीस उससे अपरिचित नहीं है। विवाह होने के बाद कोई बीस वर्ष

से) कुँवर साहब से उनकी कभी भेंट न हुई। दूर का संबंध था, तबसे उन्हें उनका कोई हाल भी न मिला।

(४)

गत शनिवार की रात्रि से कमला रानी बहुत बीमार हैं। उस रात को नाटक देखकर वापस आने के बाद ही उन्हें विषम-ज्वर आ गया है। नाटक राजा साहब के नवजात पुत्र उत्पन्न होने की प्रसन्नता में हुआ था।

नाटक में जगदीश का अर्जुन का पार्ट था।

पहले ही पहल ज्योंही कमला रानी ने जगदीश को एक राजा के वेश में देखा, उन्हें कुँवर कृपालुसिंह का स्मरण हो आया। २०-२५ वर्ष की स्मृतियाँ जाग्रत् हो गईं। नाटक के अंत तक यद्यपि वे वहाँ बैठी रहीं तथापि मनोव्यथा के साथ ही ज्वर-व्यथा भी उसी समय से जाग्रत् हुई। आत्म-ज्वर के साथ विषम-ज्वर का सूत्रपात भी उसी समय से हुआ।

जगदीश ने अपनी नौकरी के २० वर्षों में इस बार ही १० दिन की छुट्टी ली थी। छुट्टी के बाद फिर वह न आया। कमला रानी ने भी एक दिन अपनी जीवन-लीला समाप्त करदी।

❀ ❀ ❀

इसके बाद ही पत्रों में प्रकाशित हुआ—"कुँवर-कृपालुसिंह (राम नगर के राज्याधिकारी) का पता लग गया। शिखा-सूत्र त्यागे हुए संन्यासी वेश में वे गुरुकुल रजत जयंती के अवसर पर लोगों को मिले।"

राजा साहब मानपुर ने देखा—"जगदीश की सूरत, उसकी बात-चीत का स्वर, इन संन्यासी कुँवर कृपालुसिंह का-सा था! उन्हें अब

स्मरण हुआ कि कभी जगदीश ने भी कहा था---"जीवन का सुख एक कल्पना है, जो अनुभव से ही समझा जाता है। जीवन की अनेक घटनाओं का स्मरण कर वे मन-ही-मन कहने लगे-"कमले! तुम देवी थीं। मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था।"

राजा रानी के जीवन का रहस्य इन्हीं थोड़े से शब्दों में छिपा था, पर राजा साहब की आँखों के आँसू कुछ और अधिक बतला रहे थे।

नलिनी

(१)

"कहाँ ऐसे कुसमय में टपक पड़े ! ख़ैरियत तो है ?"

"पिताजी का तार आया है । दस दिन के लिये बुलाया है । आज ही इसी रात की ट्रेन से जा रहा हूँ । यही तुम्हें बताने आया था ।"

"तो क्या ज़रा देर बैठोगे भी नहीं ?"

"नहीं । बैठूँगा नहीं । देर हो जायगी । अभी बहुत-सा काम करना है ।

"मेरे लायक काम हो, तो बताओ, मैं कर दूँ । अच्छा दो ही मिनट बैठ लो । नारंगी, देख, तेरे मास्टर साहब आए हैं । उनके लिए चार बीड़े पान तो ले आ ।"

ललित बाबू कुर्सी पर बैठ गए । नलिनी ने मंद-मंद मुस्किराकर कहा—"किसलिये बुलाया है ? कोई चिट्ठी नहीं आई ?"

ललित बाबू ने टेबल पर रक्खे हुए रघुवंश के पन्ने उलटते हुए अन्य-मनस्क होकर कहा—"कुछ मालूम नहीं हुआ । इस विषय की और कोई चिट्ठी भी नहीं आई ।"

नलिनी—"तो पहुँचने पर पत्र लिखोगे ?"

"ज़रूर ।"

"लिख चुके ! ऐसे न-जाने कितने वादे किए होंगे ? एक भी पूरा हुआ ?"

"बात यह है कि—"

"बात-वात कुछ नहीं है । महज़ बहानेबाज़ी है ।"

'-अच्छा देखना !"

"कुछ देखना नहीं है । सब मालूम है ।"

"कहता जो हूँ—"

"कहते नहीं हो, कहलाते हो ।"

नारंगी पान ले आई । ललित बाबू ने पान उसके हाथ से ले लिए । उठकर चलते हुए बोले—"अच्छा अब जाता हूँ । जैसा कुछ होगा, घर पहुँचकर लिखूँगा ।"

"अच्छा अम्मा से मेरी भेंट कहना और चाचा से कह देना, नलिनी कहती थी—"अब तो बहुत दिन हो गए, मंगली की दूकान की दालमोठ कब खाने को मिलेगी ?"

ललित बाबू के गंभीर मुख-मंडल पर मंद-मधुर मुसकान की दामिनी-सी चमक गई । बोले—"ये बातें तुम न भी कहती, तो मैं कह देता ।"—और चल दिए ।

(२)

ललित बाबू का एक विवाह हो चुका था ! दूसरे की तैयारी थी । पिताजी ने उन्हें किसलिये बुलाया है, यह वे जानते थे; पर इस विषय में नलिनी से कुछ कहने का साहस उनमें न था ।

नलिनी विधवा थी । विवाह के ८ मास पश्चात् ही युद्ध-ज्वर से उसके जीवन-सर्वस्व सदा के लिये उसे त्यागकर चलते बने थे । नलिनी बड़ी सुंदर लड़की थी । उसे विधवा-वेश में देखकर सदय-हृदय पुरुषों की आत्मा एकाएक रो उठती थी । स्वभाव से वह एकदम निष्कपट, हँसोड़ और वाचाल थी । सभी से बड़े स्नेह से, हँस-हँसकर बातें करती । जो कोई उससे मिलता, उसकी बातचीत से प्रभावान्वित हुए बिना बच न सकता था । चरित्र की उच्चता के कारण सबसे मिलने के लिये एक तरह से स्वतंत्र भी हो गई थी । घर छोड़कर वह कभी कहीं जाती

न थी। उसने दो मृगछौने, दो भेड़ के बच्चे, दो मूल्यवान कुत्ते और एक मैना—ये सात जीव पाल रक्खे थे। दिन-भर कुछ-न-कुछ लिखा-पढ़ा करती, जब इससे कुछ तबियत उचटती, तो अपने इन साथियों को खेलाती। इन साथियों को खेलाने के लिये उसके पास साधन भी बड़े विचित्र थे। मृगछौनों को कभी वीणा सुनाती, और कभी इसरार। वे एक इधर एक उधर बैठ जाते, और चुपचाप उसका आनंद लेते रहते। कभी उसका शरीर सूँघते और कभी उसके वाद्य-यंत्र पर मुँह रख देते थे। वे जब उसमें विचित्र दृश्य देखते, तो मौन-भाषा में ऐसे भाव प्रकट करते कि नलिनी का हृदय उत्फुल्ल हो उठता। मैना बड़ी वाचाल थी। अक्सर कह उठती—"बहुत दिनों से मास्टर नहीं दिखाई दिए।" भेड़ के बच्चे भी नलिनी के साथ ख़ूब खेलते थे।

नलिनी का बस यही छोटा-सा संसार था। उसके हृदय में समस्त प्राणी-मात्र के लिये ममता और सहानुभूति थी। इतना सब होने पर भी उसमें एक कमी थी, और वह यही कि वह आवश्यकता से अधिक सरला थी।

ललित बाबू नलिनी के एक सहपाठी थे। घर के अमीर न थे, इसी लिये उन्हें बी० ए० की पढ़ाई तक ख़र्च प्राइवेट ट्यूशन करके चलाना पड़ता था। नलिनी की एक छोटी बहन नारंगी थी। उसी को पढ़ाने के लिये वे नित्य आया करते थे। धीरे-धीरे नलिनी से भी उनकी मित्रता हो गई।

[२]

ललित बाबू दस दिन के लिये गए थे, परंतु लौटे एक मास बाद। तारीफ़ यह कि इतने दिन लगाने पर भी उन्होंने नलिनी को कोई पत्र नहीं भेजा था। इस समय दोनों में बातें हो रही थीं—

नलिनी ने कहा—"आख़िर वही बात रही न, जो मैंने कही थी।"

ललित—"बात ही ऐसी पड़ गई कि पत्र न भेज सका।"

नलिनी—"क्या, कौन-सी, कैसी बात ? मैं भी ज़रा उसे सुनूँ।"

ललित—"आठ-दस दिन तक तो मुझे भुलावे में रक्खा गया। इसके बाद एक दिन अम्मा से मालूम हुआ कि......"

नलिनी—"हाँ, क्या मालूम हुआ ?"

ललित—"वे मेरा ब्याह एक जगह पक्का करना चाहती हैं।"

नलिनी—"अच्छा, फिर क्या हुआ ?"

नलिनी के हृदय को इस समय किसी ने नोच-सा लिया था। फिर भी वह स्वाभाविक गति से ही इस वार्तालाप में आगे का पथ पार करती जा रही थी।

ललित—"फिर हुआ यह कि मैंने साफ इनकार कर दिया।"

नलिनी—"अच्छा तो बात यहीं समाप्त हो गई, और भी कुछ है ?

ललित—"अभी कहाँ ? मुझसे कहा गया कि मैं इस प्रश्न पर एक बार फिर अच्छी तरह से ग़ौर कर लूँ और तब ज़वाब दूँ।"

नलिनी—"तो शेष २० दिन तक आप इस प्रश्न पर ग़ौर करते रहे। यह भी ज़रूरत न थी कि आप इस विषय में मुझीसे कुछ पूछ लेते।

ललित बाबू चुप थे।

नलिनी ने कहा—"अच्छा तो, अब आपका क्या इरादा है ?"

ललित—"यही कि मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँगा।"

नलिनी—"नहीं, यह नहीं हो सकता। आपको अपना यह विचार बदलना पड़ेगा।"

ललित—"जन्मांतर में भी नहीं।"

नलिनी—"इसी जन्म में ही।"

ललित—"असंभव है।"

नलिनी—"संभव होकर रहेगा।

[४]

पिछली बातें बहुत पुरानी हो गईं। कुछ दिनों में इन बातों का अस्तित्व विस्मृति के गर्भ में लीन हो गया।

आश्विन मास की अमावस्या का दिन था। महामारी भयंकर रूप धारण किए हुए थी। उसने नलिनी को भी अपना लिया। मृग-छौने रोते रह गए। और अंत में कुत्ते एक साहब को दे दिए गए। भेड़ के बच्चे बेच डाले गए, हिरन एक सघन वन में छोड़ दिए गए। मैना एक दिन द्वार खुला पाकर बाहर निकल आई, बिल्ली ने आक्रमण करके आहत कर दिया। नारंगी ने तुरंत दौड़कर उसे बचाया। परंतु वह २-४ दिन ही और जीवित रही और अंततः सदा के लिये सो गई।

ललित बाबू वकालत करने लगे थे। हाईकोर्ट में उनकी प्रतिष्ठा बड़ी शीघ्रता से बढ़ रही थी। एक केस में विजय की प्रसन्नता के साथ ज्यों ही वे कोर्ट से बाहर निकले, पोस्टमैन ने एक पत्र देकर सलाम किया। लिफ़ाफ़ा खोलकर देखा, तो वज्राघात से तड़पने लगे। मोटर तैयार खड़ी थी। तुरंत बँगले पर चले आए। उस दिन उनके हृदय से बार-बार 'नलिनी-नलिनी' की पुकार हाहाकार उठती और विलीन हो जाती।

× × ×

मनुष्य कहता है, मैं परिस्थितियों का दास हूँ, और परिस्थितियाँ कहती हैं, मनुष्य का यह गर्व मिथ्या है। आगे चलकर ललित बाबू को नारंगी का पाणि-ग्रहण करना पड़ा। दोनों बड़े सुख से रहने लगे।

(५)

एक दिन ललित बाबू अपने कुछ पुराने काग़ज़-पत्र देख रहे थे। एकाएक नलिनी का अंतिम पत्र उनके हाथ में पड़ गया, जिसमें लिखा था—

प्रिय मास्टर बाबू,

तुम्हें आज नहीं तो कल अवश्य ही मृत्यु का संवाद मिलेगा। मुझे बिश्वास है कि मैं अब की बार तुम से सदा के लिये पृथक् हो रही हूँ। जो हो, मेरे लिये दुःख न करना। मैं बहुत सुख के साथ मर रही हूँ। इस समय तुम्हारे सुख के लिये ऐसा आवश्यक भी था। परंतु जान पड़ता है, जगत्पिता ने हमारी-तुम्हारी उस दिन की बातचीत को बड़े ध्यान से सुना था। इसीलिए मुझे विश्वास हो रहा है कि तुम मेरे आग्रह को न टालकर नारंगी को अवश्य अपने हृदय में स्थान देकर मेरी अभिलाषा पूरी करोगे। मुझे प्रसन्न देखकर तुम सुखी होते रहे हो, इसीलिये, मेरे इस सुख के लिये ही, तुम मेरी इस प्रार्थना को, आशा है, अवश्य स्वीकार करोगे। मैं तुम्हारे उस विचार का आदर करती हूँ। मुझे विश्वास हो गया है कि तुम अपने विचार पर दृढ़ रह सकते हो। परंतु मैं तुम्हारे जीवन को दुःखी नहीं करना चाहती थी! इसीलिये ईश्वर को इसके लिये धन्यवाद है।

तुम्हारी—
कोई

ललित बाबू इस पत्र को पढ़ते हुए मन-ही-मन सोचने लगे, अभी तक मैं यह निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि मैंने यह विवाह करके अपने हृदय के अनुकूल कार्य किया है या प्रतिकूल। क्या जाने कब इसका निर्णय हो।

× + ×

ललित बाबू भी अब इस संसार में नहीं हैं। वे जो ज़ायदाद छोड़ गए हैं, उसमें से एक लाख केवल नलिनी-गर्ल्स-हाई स्कूल के लिये है। सैकड़ों कन्याएँ प्रति वर्ष इस हाई स्कूल में शिक्षा प्राप्त करके ललित बाबू की कीर्ति-पताका फहराती हैं। पर नलिनी का ललित बाबू के साथ कैसा पवित्र नाता था, यह कौन जानता है?

यमुना

(१)

यमुना स्वभाव की बड़ी चिड़चिड़ी थी। यदि उसकी बात में कोई छेड़खानी करता, तो उत्तर देने और विवाद करने के लिये उसका स्वर तीव्र हो जाता, और फलतः चेहरा तमतमा उठता। फिर जब तक वह उससे जी भरकर लड़ न लेती, तब तक उसे चैन न पड़ती। महेशप्रसाद (उसके पति) पर भी उसकी धाक थी—वे भी उसकी बात टालते न थे। मोहन (उसका लड़का) उसकी इस प्रकृति से पूर्णतया अभिज्ञ था, पर उसकी स्त्री (दुलारी) इस विषय में कच्ची थी।

संक्रांति का दिन था। यमुना फूल के एक हल्के बेले में खिचड़ी, एक छोटी कटोरी में घी रखकर, तिल के लड्डू तथा दक्षिणा की एक मुद्रा लेकर आई और बहू को सुनाकर बोली—"अब की बार तो मैं इस बेले में ही खिचड़ी पुन्न (पुण्य) करूँगी।"

बहू बोली—"नहीं अम्मा, बड़ा और गरुआ बेला निकाल लो, यह तो बहुत हल्का तथा छोटा है। पुरोहितजी कहेंगे कि मालकिन अब कंजूसी करने लगी हैं।"

यमुना की भौंएँ तन गईं। चिढ़कर बोली—"पराए मुँह चनों की अच्छी लगती है। ख़सम की कमाई में यह दानशीलता दिखाएगी, तब देखूँगी। ऐसी बात कहती है जैसी किसी ताल्लुक़ेदार की बेटी कहे। बाप-दादे ने भी कभी ऐसी उदारता दिखाई थी? जब से देहली पर पैर रक्खा, तब से हर साल रोज़गार में घाटा होता है। अभी

उनको (पति को) बुलाकर सब गहना उतार लूँगी, और लखनऊ (नैहर) भेजवा दूँगी। देखूँ तो, कैसी तू मेरे मुँह लगती है।

इसी प्रकार यमुना दिन-भर जो जी में आया, बकती रही। न कुछ खाया, न पकने दिया। १२ बजे महेशप्रसाद आए, तो उनसे एक की अट्ठारह जोड़ी। कहने लगीं—"ऐसी बहू के साथ मैं नहीं रह सकती, जो मेरे प्रबंध में छेड़खानी करे, विघ्न डाले। इसे आज ही लखनऊ भेजवा दो, तभी खाना खाऊँगी, जब इसे आज लखनऊ भेजवा दूँगी।

महेश प्रसाद बोले—आखिर बात क्या है? कुछ मालूम भी तो हो?"

यमुना—"ऐसी बात कहती है कि देह जल उठती है। घर में बाप तो ठेले पर बजकियाँ लादता है, और यह यहाँ आकर ऐसी दानशीलता दिखाती है, मानो किसी ताल्लुक़ेदार की बेटी हो। मैंने कहा—अब की बार फूल के इस बेले में (बेला दिखाकर) खिचड़ी, कटोरी में घी, तिल के लड्डू और दक्षिणा के मुद्रा सहित, पुरोहितजी की भेंट करूँगी। बोली—'ऐसी कंजूसी न करो, बड़े बेले में दे दो।' अपने घर को आई हुई चीज़ों की बड़ी ठसक रखती है। मुई जब से आई है, हर साल रोज़गार में घाटा होता है। सब गहने उतरवाकर इसे आज ही लखनऊ भेजवा दो; नहीं तो एक न बनेगी। न खुद खाऊँगी न खाने दूँगी।"

महेशप्रसाद ने यमुना का ढंग देखकर और उसका रुख परखकर दबी ज़बान से कहा—"इतनी-सी बात पर इतना बिगड़ना कहाँ तक उचित है, यह तुम स्वयं सोच लो। अगर उसने बड़े बेले की बात कही, तो क्या बेजा किया? साल मे एक बार ही तो यह दिन आता है, तमाम बेले आ जायँगे। जब इतना सब······।"

यमुना ने तुरंत बात काटते हुए कहा—"तुम भी उसी के पक्ष की बात कहोगे, कहो। मुझे किसी का डर नहीं है। अभी मोहन को बुलाती हूँ—तुमसे क्या होना है?"

अँगीठी में दूध गरम हो रहा था। महेशप्रसाद उतारकर, उसमें कुछ चीनी मिलाकर जमा गए, और फिर दूकान को चलते हुए। चलते हुए बोले—"मैं किसी की बात नहीं कहता। जो तुम्हारे मन में आए, सो करो; मैं तो दूकान जाता हूँ।"

(२)

संक्रांति हुए आज तीसरा दिन है। यमुना और उसकी बहू, दोनो ३ दिन की भूखी हैं। महेश और मोहन तीनों दिन दूकान में ही बाज़ार की पूरियाँ खाकर रहे। प्रथम दिन मोहन ने जब पिता के मुँह से सुना कि आज फिर दोनों में खटपट हो गई, कुछ सोच-समझकर रह गए, कुछ न बोले। घर से मा ने बुला भेजा, तो महरा से कह दिया—"कह देना परीक्षा के दिन अत्यंत निकट हैं—अब लगातार होस्टेल में ही रहेंगे।"

यमुना और बहू को २ दिन उपवास किए हो चुके थे। मोहन ने सोचा; इस तरह कैसे काम चलेगा? वह कहीं कुछ खा न ले, जो अनर्थ हो जाय। महरा के लड़के को बुलाकर स्त्री को एक काग़ज़ का टुकड़ा देने के लिये कहा। उसमें लिख दिया—"मा की बात मानने में ही कुशल है। रोटी पकाओ और उन्हें, जैसे हो सके वैसे, मनाकर खिलाओ, और स्वयं खाओ। उनके कहने का कुछ बुरा न मानो। चार-पाँच वर्ष से उनका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा हो गया है। क्रोध में आकर कहीं कुछ अनर्थ न कर बैठना।"

दुलारी तीनों दिन रोती रही। उपवास करने और दिन-रात शोक-मग्न रहने से उसका जी भारी हो आया था। पति का रुक्क़ा पाकर

वह तुरंत उठी, और महरी को बुलाकर रसोई का प्रबंध कराया। आज वह स्वयं सोच रही थी कि कोई ऐसी युक्ति मिल जाय, जिससे मा को राज़ी कर लूँ। अंत में पति की आज्ञानुसार ही कार्यारूढ़ होने पर कटिबद्ध हो गई।

मनुष्य क्रोध से अंधा हो जाता है और फिर वह बुरा-भला नहीं सोचता। परंतु क्रोध का आवेग कम होने पर ऊँच-नीच सभी उसके समक्ष आ जाता है। यमुना भी अपनी बातों पर बहुत-कुछ सोच-विचार करती थी। उसे अपनी हठ पर खेद था। परंतु स्वाभिमान के प्रभाव से प्रभावान्विचत होकर वह स्वयं कैसे संधि का प्रस्ताव करती? जीवन में ऐसी अनेक अवस्थाएँ आती हैं, जब हम अपनी ग़लती स्वीकार करते हुए भी, स्वाभिमान-वश, उसे प्रकट नहीं करते। यदि हम अपनी समस्त ग़लतियाँ स्वीकार करने लगें, तो मामला कभी तूल न पकड़े। समाज में यदि यह कभी न हो, तो उसमें कभी क्रांति की नौबत न आए। न द्वंद्व-युद्ध हो और न हो इतना रक्त-पात। परंतु समाज में यह हम आदि-काल से देखते आ रहे हैं। कभी इसका रूप बदलेगा, यह नहीं कहा जा सकना।

यमुना कभी-कभी मन-ही-मन कहती—बहू से जाकर कहूँ, मुझे माफ़ करो, मेरी बात पर बुरा न मानो। मोहन से पूछ लो, मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि मुझे रिस बड़ी जल्दी आ जाती है। और जब आ जाती है, तो मैं बहुत अनाप-शनाप बक जाया करती हूँ। इतना सब सोचने के बाद ही उसके कान में कोई कहने लगता—परंतु, इसमें मेरी ही हार होगी। नहीं ऐसा नहीं, हो सकता। आख़िर मैं सास ही हूँ, और वह बहू ही है। वही क्यों नहीं मेरे पैर पड़ती, और मुझसे क्षमा माँगती, अगर वह उसी दिन मुझसे क्षमा माँगती, तो मैं इतनी आगे कदापि न बढ़ती। होगा, अबतो यह मामला चल ही रहा है। आख़िर एक दिन मरना है ही, क्यों किसीसे दबकर रहूँ। रहूँगी तब

तक शेरदिल होकर रहूँगी। न रहने को होगा तब, जब चाहूँगी, कुछ खाकर मर जाऊँगी।

दुलारी को भी मन-ही-मन पश्चात्ताप था। वह रोटी करती जाती थी और सोचती जाती थी—इसी युक्ति से उस दिन काम लेती, तो काहे को उस दिन से आज तक लोग भूखे रहते। मेरी बुद्धि भी मारी गई थी। बात ही क्या थी? मा के पैर पकड़ती और कहती—मुझे माफ़ करो, जो चाहो सो करो। मैं तुम्हारी बात में कभी छेड़खानी न करूँगी। अगर मैं इस प्रकार स्वयं उनसे जाकर मिलती, तो वे भी तुरंत पसीज जातीं। ग़ुस्सा तो उन्हें बड़ा आता है, पर हैं विशाल हृदय की। परंतु, इससे दोष तो उन्हीं का था। मैंने तो कोई ऐसी बुरी बात भी नहीं कही थी, जिससे वे इतना बिगड़तीं। सच्ची बात तो यह है कि बहुत दिनों से उन्हें किसी पर बिगड़ने का अवसर नहीं मिला था, इसीलिये वे मुझपर बाज़ की तरह टूट पड़ीं। जब मेरा दोष ही न था, तो मैं उनसे क्यों क्षमा माँगती। परंतु नहीं, आखिर वे बड़ी ही हैं, सास ही ठहरीं। अगर उन्होंने इतनी बातें कह लीं, तो क्या हुआ। छोटों को बड़ों की बातें सुननी ही पड़ती हैं, वास्तव में मैंने भूल की। चलो, प्रायश्चित्त भी हो गया। तीन दिन भूखों मरी।

(३)

शाम के पाँच बजे होंगे। दुलारी ज्योंही रसोई बना चुकी, त्योंही धीरे से सास के पास गई, और खेद के साथ कहने लगी—"अम्मा, चलो कुछ खा लो! मुझे माफ़ करो, मैं अब तुम्हारी बात पर कभी बात न बढ़ाऊँगी।" शब्द सीधे-सादे थे, परंतु उनके अंदर बड़ा विषाद भरा हुआ था। इतना कहते-कहते दुलारी के नेत्रों में आँसू भर आए।

यमुना के हृदय में क्रोध का लेश न था। उसका हृदय उदारता और विषाद से पूर्ण था। उसे अपनी हठ पर, अपनी बातों पर, अपने

कलह पर बड़ा खेद था। दुलारी की क्षमा-प्रार्थना पर विषाद का वह स्रोत, जो अभी तक स्वाभिमान के बाँध से बंधा हुआ था, बाँध तोड़कर उमड़ पड़ा। वह दुलारी के गले से लिपट रोने लगी। यमुना को रोते देखकर दुलारी भी अपने आँसुओं को सँभाल न सकी, वह भी चिपटकर रोने लगी।

मोहन और महेश दोनो इस दृश्य को देखकर हँसने लगे। महेश बोले—"वाह ! यह खूब रही। सास-बहू की ऐसी लड़ाई कहीं सुनने में नहीं आई।"

यमुना ने रोते हुए कहा—"मेरी यह अभिलाखा(अभिलाषा) रह गई कि मैंने तुझसे इतनी बातें कहीं, तू मुझे एक बात तो कह लेती, एक का भी जवाब तो दे लेती। मैंने इतनी रिस की, गालियाँ दीं, पर तूने कुछ न कहा। अरे इतना ही कह लेती कि अम्मा मुझे तुम जो चाहो सो कहो, मेरे मा-बाप ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है—उन्हें तुम क्यों गालियाँ दे रही हो।" ऐसी बहू मुझे कहाँ मिलेगी ?"

रोने से दोनो के मन का विषाद कुछ कम हुआ। दोनो साथ ही भोजन करने बैठ गईं। यमुना एक ही पराठा खाकर उठने लगीं। दुलारी ने कहा—"तुमने अभी तो कुछ खाया नहीं, उठी क्यों जा रही हो।" यमुना की आँखों में अब भी आँसू थे। बोली—"जी अच्छा नहीं है।" दुलारी ने यमुना की देह पर हाथ रखकर देखा, उसकी देह में ज्वर था।"

(४)

संक्रांति हुए १५ दिन बीत गए, यमुना का ज्वर न छूटा। खाना-पीना बिल्कुल छूट गया। चारपाई पर दिन-रात पड़ी रहती। दुलारी दिन-रात उसके पास बैठी हुई उसकी सेवा करती रहती। ठीक टाइम से दवा खिलाती और चारपाई से लगी बैठी रहती। यमुना की अवस्था

दिन-पर-दिन बिगड़ती ही गई। दवा ने कुछ भी फ़ायदा न किया। डॉक्टरों ने बतलाया; मानसिक वेदना ने इनके हृदय हर ऐसी गहरी चोट पहुँचाई है कि इनपर दवा अपना असर नहीं करती। लक्षण अच्छे नहीं दिखते।

यमुना जब होश में होती, तो दुलारी को पास ही बैठा हुआ देखकर रो देती। दुलारी उसके आँसू पोंछती और कहती—"अम्मा, तुम्हारे जी में बड़ा दुःख भरा हुआ है। तुम उसे बिल्कुल निकाल डालो।" यमुना कुछ उत्तर न देकर आँखें मूँद लेतीं। कभी-कभी बेहोशी की अवस्था में चौंककर कह उठती—"एक ही अभिलाख (अभिलाषा) थी कि तू मुझसे एक बात तो कह लेती।" दुलारी यमुना को पुकारती, पर यमुना कुछ उत्तर न देती।

और ४-६ दिन तक यही हालत रही।

(५)

प्रातः काल का समय था। यमुना ने इशारे से पूछा—"क्य वक्त है, क्या बजा होगा।" दुलारी ने कहा—"अम्मा, सुबह हो गई है, ६ बजने को हैं, सूर्य भगवान् के निकलने में अभी घंटे-भर की दे रहै।

यमुमा ने कहा—"इतनी ही देर मुझे भी है।"

दुलारी ने कहा—"अम्मा, यह क्या कहती हो। इस वक्त तो तुम्हारा जी अच्छा मालूम होता है।"

यमुना—"भूल है।"

धीरे-धीरे साँस तीव्र-गति से चलने लगी, गले में कफ़ खड़खड़ाने लगा, और बहुत प्रयत्न करने पर भी यमुना के मुँह से बोल न निकलने लगा। मोहन ने निकट आकर मा का हाथ देखा। नाड़ी मंद गति से चल रही थी, और क्रमशः उसकी गति-विधि मंद होती जाती थी, शरीर में ज्वर न था। थोड़ी-सी हरारत शेष थी। हाथ-पैर ठंढे हो चले थे।

दे। कहे—"भेज तो देता, पर इन दिनों घर में शादी होने वाली है। इसलिये लाचारी है। परंतु आखिर वह चली क्यों आई? अच्छा, मिलने पर ऐसी फटकार बताऊँगा कि याद करेगी। पर पहले पहुँचूँ तो, देखूँ आख़िर मामला क्या है? [घड़ी देखते हुए] एँ! साढ़े चार बज गए! ४-५५ पर गाड़ी स्टार्ट हो जाती है। जल्दी करना चाहिए, नहीं तो जाड़े की बेदर्द रात करवटें बदलते बीतेगी!"

बिस्तर आदि असबाब जो महरा से लदाकर उतरे; तो सड़क पर इक्केवाला पुकार रहा था—"एक सवारी लखनऊ स्टेशन!"

मोती बाबू सीढ़ियों से उतरते ही बोले—"ठहरो, आए।" मन में कहने लगे—"लक्षण तो अनुकूल दिखाई देते हैं।"

स्टेशन पहुँचे, तो टिकट बँट रहा था। टिकट लेनेवाले एक-आध मुसाफ़िर खिड़की पर रह गए थे। गाड़ी स्टार्ट, होने में ५ मिनट की ही देर थी। जल्दी से टिकट लेकर, लपककर एक डब्बे में जा डटे। इत्तिफ़ाक़ से डब्बे में बड़ी भीड़ थी, बैठने की जगह मुश्किल से मिली। अच्छी तरह बैठ भी न पाए थे कि गाड़ी ने सीटी दी।

[२]

"तो भाभी से चुपके से क्यों नहीं कह दिया कि मा से कह दो, न भेजें। वे आनेवाले हैं?"

"कैसे कहती, जब जीजाजी बार-बार आग्रह-पूर्वक कह रहे थे, वैसे कोई बात नहीं थी। मगर अब की बार बात ही और है, तुम मोती बाबू का ही ख़याल करती हो न? तो यदि वह कुछ कहें, तो मेरा नाम ले देना। कहना, मैं क्या करूँ, वह किसी तरह माने नहीं।"

"परंतु जब चलने के लिये राजी ही न होतो, तो क्या ज़बरदस्ती घसीटकर ले जाते? मनुष्य कहता तो ज़बान ही से है? बका करते।"

"न-जाने तुम कैसे बेमुरव्वत आदमी हो। आखिर जीजाजी ही

ठहरे। जब वे इतना आग्रह कर रहे थे, तब उनकी बात टालना भी ठीक नहीं था। आखिर तुम्हीं सोचो, जब आपस में इतनी घनिष्ठता मानते हो, तो क्या उनके साथ ऐसा व्यवहार करना उचित है?"

मोती बाबू श्यामा की ठुड्डी हिलाते हुए बोले—"यह तो मैं तुमसे कह रहा हूँ। उनसे तो मैं कुछ कहता नहीं। ख़ैर, अच्छा यह बताओ अब साथ चलोगी?"

श्यामा—"यह तो तुम जीजा से ही पूछ देखो। मैं क्या कह सकती हूँ? मैं तो तैयार हूँ। चलो अभी चलो।"

"अच्छा, उन्हीं से तै कर लूँगा। अभी तो कई दिन हैं। और कहो, चैन से कटी न?"

यह सुनकर श्यामा ने अपने चंचल नेत्रों से मोती बाबू की ओर देखा और कहा—"जैसी आपकी......।"

इसी प्रकार विविध प्रकार की बातें करते हुए दोनों सो गए।

[२]

रामा और श्यामा दोनों की अवस्था में दो वर्ष का अंतर है। बाबू मदनमोहन के और कोई संतान नहीं। बड़े आदमी थे। दोनों का विवाह जी खोलकर ख़र्च करके किया। दामाद भी एक-से-एक बढ़कर मिले! बरेली में जब कभी दोनों एकत्रित हो जाते, तो बड़ा रंग लाते। बरेली से ही यह घनिष्ठता उत्पन्न हुई। बाबू मोतीलाल में और जो कुछ गुण हैं, सो तो हैं ही, एक गुण यह भी है कि वे अपनी प्रियतमा श्यामा को बहुत चाहते हैं। इतना अधिक कि अकेले कभी रह नहीं सकते। श्यामा की मा श्यामा को बुलाने के लिये बुलावे-पर-बुलावे भेजती है, पर मोती बाबू अपनी विवशता प्रकट करते हुए श्यामा को उसके नैहर भेजने की बात पर सदा इनकार कर दिया करते हैं। उनकी विवशता और कुछ नहीं, यही है कि मा वृद्ध है, उनसे भोजन आदि बनाया जाता

नहीं। आप तो अपने यहाँ बुलाकर अपनी साध पूरी करेंगे, मगर यहाँ उपवास होंगे। अतएव लाचारी है, नहीं भेज सकते। पर वास्तव में यह बात नहीं है। मोती बाबू की मा वृद्ध सब कुछ हैं, पर भोजन आदि बनाने तथा अन्य छोटे-मोटे कामों में वे नई नवेलियों के कान काटती हैं। बुलावे का उत्तर वे ही देतीं—मोती का रुख देखकर उपर्युक्त विवशता की बात वे ही कहतीं श्यामा के नैहरवाले यही समझते रहे कि वास्तव में बिदा न होने का कारण लाचारी ही है।

पर यह गोलमाल बहुत दिनों तक नहीं चला। अंत में भेद खुल ही गया और एक अवसर पर श्यामा की बिदा करनी ही पड़ी। रामेश्वर बाबू किसी काम से बरेली आए हुए थे। ससुराल गए। श्यामा को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उनकी यह अभिलाषा थी कि श्यामा को बुला लिया जाय। पर उन्हें विश्वास न था कि मोती भेज देगा। इसीलिये उन्होंने श्यामा को सीधे कानपुर से बुलाने की चेष्टा भी नहीं की। यह अवसर देखकर वे ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्हें कोई खोई हुई वस्तु मिल गई। श्यामा की मा से कहा—"वे पहले तो नहीं-नहीं करती रहीं, परंतु रामेश्वर ने बहुत ज़ोर दिया, तो भेजने पर राज़ी हो गई।"

श्यामा को लखनऊ आए हुए १५ दिन हो चुके। रामा के पुत्र हुए भी ८ दिन हो गए। छटी आदि हो चुकी थी। अन्य खुशियाँ भी मनाई जा चुकी थीं। रामेश्वर ने पहले इरादा किया कि मोती को भी पहले ही बुलाएँ; पर उन्होंने जब देखा कि बड़े दिन की छुट्टियाँ निकट हैं, तब निश्चय किया कि उन्हीं दिनों बुला लूँगा।"

मोती की ये छुट्टियाँ बड़े चैन से कटीं। दिन-रात मनोरंजन और विनोद-पूर्ण बातों में ही बीता। कहा जाता है—"सुख के दिन बड़ी जल्दी कटते हैं।" मोती बाबू को भी ऐसा ही कुछ अनुभव हुआ। छुट्टी समाप्त हो गई, और कुछ मालूम ही न हुआ। कल ही से

आरंभ हुई हो। रामेश्वर से बोले—"तो अब मेरी तैयारी का प्रबंध किजिए, मैं कल मॉर्निंग ट्रेन से चला जाने वाला हूँ।"

रामेश्वर—"तो क्या हुज़ूर की सवारी पधारनेवाली है?"

मोती बाबू मुसकिराते हुए बोले—"जी हाँ।"

रामेश्वर ज़रा गंभीर-मुद्रा से बोले —"भई, अगर सच पूछो, तो, कहूँगा कि बिदा-विदा तो अभी होती नहीं। हाँ आप चाहें, तो जा सकते हैं।"

मोती—"मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या अब भी बिदा न होगी!"

रामेश्वर—'नहीं, अभी एक काम बाकी ही है। अब तक उसका ख़्याल ही न था। इत्तिफ़ाक़ से कथा कहलाने का ध्यान तो बिल्कुल उचट ही गया था। सो अब मैंने निश्चय किया है कि इसी रविवार को कहला डालूँ। मैं तो सोचता हूँ, आप भी बने रहिए, दरख्वास्त भेज दीजिए।'

मोती—नहीं, मैं अब न रह सकूँगा। छुट्टी समाप्त हो गई है। अधिक बढ़ा भी नहीं सकता। इस वर्ष बहुत छुट्टियाँ ले चुका हूँ।

रामेश्वर—'माफ़ कीजिएगा। इसी कारण नहीं भेज सकता हूँ। अन्यथा और तो विशेष कोई काम न था। हाँ, तो संडे को अवश्य आइएगा, और साथ ही लिवा जाइएगा।"

मोती बाबू हँसते हुए बोले —"बहुत अच्छा, जो इच्छा!"

(४)

श्यामा को कानपुर आए हुए अरसा हुआ। आठवें-दसवें दिन रामा का पत्र आता है। श्यामा भी शीघ्रता-पूर्वक उत्तर दे दिया करती है। श्यामा अब जब कभी बरेली जाने की बात छेड़ती है, मोती बाबू साफ़ इनकार कर जाते हैं। उन्होंने तो यह प्रतिज्ञा-सी कर ली है कि दो-तीन वर्ष में सिर्फ़ एक मास के लिये भेजूँगा। वह भी तब, जब अम्मा की तबियत बिल्कुल अच्छी होगी। कोई लाख कहे, एक न

मानूँगा। अपनी इस प्रतिज्ञा को वे अपने हृदय के अंदर छिपाए हुए हैं। उनकी धारणा है कि श्यमा से यह बात स्पष्टतया बतला देना ठीक न होगा।

रविवार का दिन था। दोपहर ढल चुकी थी। मोती बाबू छत पर चारपाई डाले प्रभात बाबू के "पत्र-पुष्प" की एक कहानी पढ़ रहे थे।

इतने में किसी की आहट मालूम हुई। ज़ीने की ओर दृष्टि फेरी, मालूम हुआ कि श्यामा ही है। मुसकिराती हुई हाथ में कोई पत्र-सा लिए आ रही है। बोले—"क्यों, क्या मज़मून है?"

श्यामा—"देखो न मेरे भाई हुआ है।"

मोती—"यानी छोटे चाचाजी के लड़का हुआ है।"

श्यामा—"हाँ, हम दोनो का बुलाया है। पढ़ लो न?"

मोती—"क्यों न होगा? यह तो मैं पहले ही जानता हूँ। वरना यहाँ आकर पत्र देने की क्यों तकलीफ़ की जाती? अभी कुल आठ ही महीने तो तुम्हें लखनऊ से आए हुए हैं। और फिर, हवा खाने को शौक़ चर्राया?"

श्यामा—"न-जाने तुम्हारा कैसा स्वभाव है! मुझे अपनी मा के यहाँ जाने के संबंध में तुम इस प्रकार की बातें क्यों किया करते हो? बड़ी आशा, मान-दान और उम्मीदों पर तो उनके यह संतान हुई है। ऐसे अवसर पर उनकी ख़ुशी में शामिल न होना तुम्हें उचित मालूम होता है? वह भी अपने मन में क्या कहेंगे!"

मोती—"क्या कहेंगे? यही कहेंगे, मा की तबियत अच्छी न होगी, इसीलिये श्यामा नहीं आई। उनकी ख़ुशी में शामिल होने के लिये मैं तो पहुँच ही जाऊँगा।"

श्यामा—"तो क्या सचमुच मुझे नींद लिवा चलोगे?"

मोती—"इरादा तो ऐसा ही है।"

श्यामा उदास-मुँह वापस चली गई।

(४)

बाबू मदनमोहन के छोटे भाई विश्वमोहन अपने बैठकख़ाने में बैठे हुए थे। विश्वमोहन रिश्ते से तो मोती बाबू के चचिया ससुर होते थे, पर दोनो की आयु लगभग एक ही थी, इसलिये आपस में मित्र-भाव का व्यवहार होता था। इस प्रकार मोती बाबू, रामेश्वर और विश्वमोहन के एकत्र होने से बड़ी चहल-पहल रहती। रामेश्वर बाबू भी बैठकख़ाने में विराजमान थे। विश्वमोहन के दो-एक मित्र और भी थे। ब्रिज़ का गेम हो रहा था। इतने में मोती बाबू आ उपस्थित हुए। परस्पर अभिवादन के पश्चात् रामेश्वर ने पूछा—"क्यों साथ में लिवा लाए हो न?"

मोती बाबू ज़रा गंभीर मुद्रा से बोले—"माँ की तबियत ज़रा नासाज़ हो गई थी, इसीलिए नहीं ला सका। विवश था।"

रामेश्वर बाबू ने मुस्किराते हुए कहा—"हाँ यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जब यहाँ आने को होता है, तो अकसर मा की तबियत नासाज़ हो जाया करती हैं!"

मोती बाबू उसी तरह गंभीरता-पूर्वक बोले—"नहीं, यह बात नहीं। वाक़ई उन्हें नज़ला हो गया था। वृद्धावस्था में नज़ला होने पर उन्हें कभी-कभी बुख़ार हो आता है।"

रामेश्वर—"हाँ, यह तो तुम ठीक कहते मालूम होते हो।"

विश्वमोहन बात काटकर बोले अच्छा बैठो, कुछ नाश्ता कर लो, तब और कुछ बात करो।"

मोती—'फाटक पर ताँगा खड़ा है, उसमें कुछ असबाब है, उसे घर भिजवा दूँ और अन्य लोगों से मिल आऊँ, तब आकर नाश्ता करूँगा।"

विश्वमोहन—"तो असबाब वग़ैरह मैं नौकर से रखवाए देता हूँ"

मोती—"नहीं, ऐसी ज़रूरत नहीं। असबाब मैं ही नौकर से रखवा दूँगा। आप मज़े से गेम में मशग़ूल रहिए। तकल्लुफ़ न कीजिए।"

विश्वमोहन को तकल्लुफ पसंद भी न था। इसके अतिरिक्त मोती बाबू से उनका ऐसा व्यवहार था कि वह उनसे अधिक तकल्लुफ़ नहीं करते थे।

मोती बाबू असबाब आदि न रखवाकर सीधे अंतःपुर चले आए। मकान दो भागों में विभक्त कर दिया गया था, एक में ज़च्चाख़ाना था, दूसरे में अतिथियों को ठहराने का प्रबंध था। वे दूसरे भाग में ही गए। मोती बाबू को आया हुआ देख, अंतःपुर की समस्त महिलाएँ एकत्रित हो गईं, और उनसे बातचीत करने लगीं। रामा मेवा बीन रही थी। एकाएक मोती बाबू को आया हुआ देख, बोली—"हॅलो, तुम आ गए। बिट्टी को भी लिवा लाए हो न ?"

मोती—"नहीं तो।"

मोती बाबू का "नहीं तो" उत्तर मकान-भर में गूँज गया। सब-की-सब उनको डाँटने-फटकारने लगीं।

रामा ने ज़रा गंभीरता-पूर्वक कहा—"बाबू, तुममें यह बड़ी बुरी आदत है कि जब कभी आते हो, बिट्टी को साथ नहीं लिवा लाते। ख़ैर! साधारण अवसरों पर तो कोई बात नहीं, पर जब विशेष अवसर आते हैं; तब भी नहीं लाते। यह अच्छा नहीं। कृत्रिम रुष्टता से कहने लगी—"जाओ, लौट जाओ, और लिवा लाओ। खाना खा लो, आराम कर लो, और इसी ट्रेन से चले जाओ। बाबू, देखो बुरा न मानना, जब घर में हँसी-खुशी का काम-काज हो, तो अपने किसी भी आत्मीय की अनुपस्थिति अच्छी नहीं लगती, और फिर बिट्टी के बिना

यहाँ सब सूना-सा दीखेगा। न्यू अलफ्रे ड थियेट्रिकल कंपनी आई हुई है। दद्दा का इरादा है कि शहर-भर को दो तमाशे फ्री दिखाये जायँ। तुम्हीं सोचो कि उसके बिना यहाँ सब अच्छा लगेगा ?"

मोती--"तो मैं इन्हीं पैरों लौटा जाता हूँ. लिवा लाकर ही दूसरी बात करूँगा।"

इतना कहते हुए मोती बाबू लौट पड़े। मोती का लौटना था कि अंतःपुर में फिर कुहराम मच गया। सब-की-सब कहने लगीं--"लो, रामा तो बाबू को मना रही थी, और बाबू रूठ गए। योंही लौटे जा रहे हैं।"

रामा बोली--"मोती बाबू, ओ मोती बाबू, मालूम होता है, तुम रूठ गए। मैंने तो ऐसी कोई बात भी नहीं कही। हाँ केवल यही कहा कि अगर लिवा लाओ, तो अच्छा हो। अच्छा, अगर तुम मेरी इसी बात का बुरा मान गए, तो मैं तुमसे क्षमा माँगती हूँ। आओ, लौट आओ। केशव (मोती का छोटा भाई) तो साथ है ही, वही लिवा लाएगा। तुम आओ, लौट आओ।"

मोती बाबू ने जाते हुए मुँह घुमाकर कहा--"नहीं, मैंने बिलकुल बुरा नहीं माना। तुमने बुरा मानने की ऐसी बात ही कौन सी कही, जो मैं बुरा मानता।"

रामा बोली--"नहीं बाबू, तुम ज़रूर बुरा मान गए, तभी तो लौटे जा रहे हो। अरे लौटो, नहीं तो मैं दद्दा को बुलाती हूँ।"

मोती ज़रा दूर हो गए थे, इसलिए उन्होंने यह कुछ नहीं सुना और चलते ही गए।

रामा ने नौकरानी से कहा--"जा, दद्दा से सब हाल कह दे, वे बाबू को मना लेंगे।" नौकरानी विश्वमोहन के पास गई और सब हाल कहा। विश्वमोहन बोले--"वाह, ख़ूब रही। अपने मान्यवरों से

कहीं इस तरह की बात की जाती है, पर रामा तो बड़े सरल स्वभाव की है, उसके मुँह से ऐसी बात कैसे निकली ? और तो किसी ने कुछ नहीं कहा ?"

नौकरानी—"नहीं, और तो किसी ने वैसी बात नहीं कही। जल्दी जाइए, फाटक के दरवाज़े ही तो ताँगा खड़ा हुआ बतलाते थे। सवार होकर चल दिए होंगे।"

विश्वमोहन बिगड़कर बोले—"तो क्या अभी तक उनका असबाब भी नहीं उतारा गया ?"

नौकरानी—"कहाँ सरकार ! अभी तो असबाब-वसबाब कुछ उत्तारा नह गया।"

विश्वमोहन नौकर से गुस्से से बोले—"क्यों बे उल्लू मोहना ! तू अभी तक चिलम ही पी रहा है, असबाब नहीं उतरवाया ! अच्छा ठहर जा. मैं मोती बाबू को लौटा लाऊँ, फिर तेरी भी मरम्मत करता हूँ। पहले घर में पूछ लूँ, क्या बातचीत हुई।" घड़ी देखते हुए पुन बोले अभी तो टाइम है। स्टेशन पर ही मिलेंगे।"

यह कहते हुए विश्वमोहन घर जाकर सब बातें पूछने और सबको डाँटने लगे। बोले—"कोई मेहमान आता है, तो पहले उसका आदर-सत्कार किया जाता है, या इस तरह की बातें की जाती हैं ?" घर में सन्नाटा छाया हुआ था। इतने में नौकर आकर बोला—'सरकार ! सरकार ! वह तो......"

विश्वमोहन—"हाँ आ साले, पहले तेरी मरम्मत कर दूँ। तूने झट-से असबाब क्यों नहीं उतरवाया ? जब मोती बाबू बैठकख़ाने में आये थे, तब तुम्हें मालूम नहीं हुआ था ?"

नौकर—"सरकार मालूम क्यों नहीं हुआ था, पर वह तो कह गये थे कि मैं अभी आता हूँ। तू ज़रा ठहर जा"। इतने में पीठ की ओर

घूमकर देखा, तो उसे मालूम हुआ कि मोती बाबू आ रहे हैं। झट साहस करके, खुशी के साथ, जोर से बोला—"सरकार मुझपर नाख़ुश क्यों होते हो, लो वह तो देखो।"

× × ×

मोती बाबू रामा से मुस्किराते हुए बोले—"लो, मैं लिवा लाया। कितनी जल्दी लौटा? मैं तो कहता था कि बस अब लिवा लाऊँगा। तभी दूसरी बात करूँगा।"

अंतःपुर का समस्त जन-समुदाय लोट-पोट हो गया।

रामा हँसती हुई बोली—"बाबू, आज तो तुमने जादू का-सा खेल दिखाया। कमाल का काम किया। यह रहस्य किस तरह रचा?"

मोती—"केशव से कह दिया था, चुपचाप बैठे रहना। अगर कोई पूछे, तो कह देना कि भाभी नहीं आई। बेतुका बहुत-सा सामान है, इसीलिए ताँगे पर चदरा डलवा लिया है। इत्तिफ़ाक से फाटक की ओर कोई गया भी नहीं। गया भी हो, तो किसे मालूम क्या बात है? कोई कुछ पूछता भी, तो केशव वही कह देता, जो मैंने सिखला रक्खा था। आख़िर तुमको मैंने पत्र में लिख भी दिया था कि अगर मा की तबियत अच्छी रही, तो ज़रूर लिवा लाऊँगा। तुमको ख़ुद सोचना चाहिए था कि अच्छी तबियत क्या ख़ाम-ख़ा ख़राब हो जायगी, जब कि तुमसे अब कुछ छिपा नहीं है।"

रामा—"हाँ, यह तो ठीक है। मेरा इस ओर ध्यान ही नहीं था। मुझे क्या मालूम कि तुम ऐसा बेढब मज़ाक़ करोगे।"

मोती बाबू—"अब न कभी कहना कि मैं विनोद करना नहीं जानता।"

रामा—"अब भी कहूँगी जब कि ऐसी उलटी खाई?"

मोती बाबू मुस्किराते हुए बैठकखाने में पहुँचे, तो वहाँ भी यही ज़िक्र छिड़ा हुआ था।

रामेश्वर बोले—"वाक़ई भाई, अब की बार तो तुमने कमाल किया।"

अंतःपुर में श्यामा रामा से कहने लगी—"मैं मन-ही-मन घबरा रही थी कि इतनी देर हो गई, अभी तक नौकरानी नहीं आई। आख़िर यह मामला क्या है! मुझे क्या मालूम था कि यहाँ यह षड्यंत्र रचा जा रहा है! ताँगेवाला भी बाबू (केशव) से बार-बार कह रहा था—"बाबू, जल्दी ताँगा ख़ाली करो, मुझे अभी स्टेशन सवारियाँ ले जानी हैं।" बाबू भी सीखे हुए थे—कहते, "ऐसी क्या जल्दी है। नौकर आ ही रहा होगा। गाड़ी आने का टाइम होने में अभी देर है।"

रामा बोली—"अब जाना कि हज़रत इस तरह बने हुए हैं।"